॥ धर्म का मूल सम्यग्दर्शन है ॥

आत्मधर्म

वर्ष : २
अंक : ८

: संपादक :
रामजी माणेकचंद दोशी
वकील

मगसिर
२४७३

दर्शन का विषय अखंड ध्रुव आत्मा है

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का ही आश्रय सम्यग्दर्शन में नहीं है, श्रद्धा की पर्याय का आश्रय भी श्रद्धा में नहीं है। श्रद्धा की पर्याय का आश्रय हो तो वह व्यवहार दृष्टि हो गई–अज्ञान हुआ। जिसे ऐसी उमंग है कि 'व्यवहार आएगा तो अवश्य' उसे व्यवहार का अर्थात् राग का संतोष है। व्यवहार आता है, उसकी उमंग होना चाहिये या खेद ? खेद होना चाहिये। अज्ञानी के उमंग है और जहाँ उमंग है, वहाँ राग–विकल्प है। उमंग=आश्रय, भावना। अज्ञानी को उसकी गहरी आशा है। ज्ञानी के उसकी भावना, आश्रय अथवा उमंग नहीं होती, किन्तु खेद होता है। ज्ञानी उसमें संतुष्ट नहीं होते। अज्ञानी को अखंड विषय छोड़कर पराश्रय में उमंग होती है।

ज्ञानी को राग की भावना नहीं होती, वीतरागता की भावना होती है। गुण की हानि हो—ऐसी उमंग नहीं होती, जिसका व्यय होता है, उसकी उमंग या आश्रय है, सो अज्ञान है। दर्शन का विषय अखंड ध्रुव आत्मा है। जहाँ दर्शन का समस्त विषय है, वहीं समस्त बीज पड़ा हुआ है। व्यवहार आये और आश्रय बदले, इन दोनों में भेद है। मोक्ष की निर्मल पर्याय और अभेद दोनों के बीच का अंतर (भेद) सम्यग्दर्शन नहीं मानता। अभेद दृष्टि के होने पर निर्मल पर्याय दूर नहीं रह जाती।

वार्षिक मूल्य तीन रुपया

शाश्वत सुख का मार्ग २० दर्शक मासिक पत्र

एक अंक पाँच आना

आ त्म ध र्म का र्या ल य — मो टा आं क ड़ि या — का ठि या वा ड़

आत्मधर्म
: वर्ष : २ : : अंक : ८ :
२०
: मगसिर: : २४७३ :

मुनिपद की दीक्षा लेने का क्रम

मुनिपद की दीक्षा लेने का क्रम यह है—प्रथम तत्त्वज्ञान हो, फिर उदासीन परिणाम हो, परीषहादि सहन करने की शक्ति हो, मुनि होने की उत्कट इच्छा हो, तभी श्रीगुरु उसे धर्म अंगीकार करावे, दीक्षित करे। परंतु आजकल तो कई जगह ऐसी प्रवृत्ति देखने में आती है कि तत्त्वज्ञानरहित विषयासक्त जीव को लोभ व मायावश लुभा करके मुनिपद पर आसीन कर देते हैं और फिर उसकी विपरीत आचरणा से शासन की बदनामी होती है। अत: अयोग्य को दीक्षित करना अन्याय है।

(१) जो तत्त्वज्ञान रहित होता है, वह जीव तत्त्वदृष्टि से विषयासक्त होता ही है, ऐसा नियम है।

(२) जो जीव मुनिपद लेने के योग्य नहीं हो, उसे मुनिपद देने की प्रवृत्ति जहाँ होती है, वहाँ तत्त्वदृष्टि से माया अथवा लोभ होता ही है।

(३) सच्चा मुनित्व न हो, फिर भी उसमें मुनित्व मानकर मुनित्व में मुनि जैसी प्रवृत्ति करना-कराना सो अन्यथा प्रवृत्ति है।

☆ आत्मा को पहिचानो ☆

हे जीवो! तुम जागो। मनुष्यत्व अत्यंत दुर्लभ है। अज्ञान में रहकर सद्विवेक को पाना अशक्य है। समस्त विश्व केवल दु:ख से जलता रहता है और अपने अपने कर्मों से यत्रतत्र भ्रमण करते रहते हैं। ऐसे संसार से मुक्त होने के लिये हे जीवो! तुम सत्वर आत्मप्रतीति के साथ जागो! जागो!!

★

हे जीव! हे आत्मा! अब कब तक विपरीतमान्यता को रखोगे? विपरीतमान्यता में रहकर अनादिकाल से अज्ञान के मोहजाल में फंसे हुये हो, अब तो जागो। एक बार तो विपरीतमान्यता से छूटकर अज्ञान के मोहजाल को छिन्न-भिन्न करके अपने मूलस्वरूप को देखो।

★

सच्चा सुख कैसे प्रगट होता है? सच्चा सुख आत्मा में ही है। बाहर कहीं भी सच्चा सुख नहीं है। आत्मा स्वयं सुखरूप है। जब सम्यग्दर्शन के द्वारा अपने स्वरूप को भलीभाँति जानता है, तभी

यथार्थ सुख प्राप्त होता है; इसलिये सर्व प्रथम सत् पुरुष के चरणों में अर्पित हो जाना चाहिये और रुचिपूर्वक निरंतर सत् का श्रवण-मनन करना चाहिये।

★

प्रत्येक आत्मा दु:ख से मुक्त होकर सुख को प्राप्त करने का उपाय किया करता है किन्तु अपने यथार्थ स्वरूप की प्रतीति के बिना सच्चा उपाय करने के बदले विपरीत उपाय करता है और इसलिये अनादि काल से अज्ञान के कारण दु:ख ही दु:ख भोगता है, उस दु:ख से मुक्त होने के लिये तीनों काल के ज्ञानीजन एक ही उपाय कहलाते हैं कि आत्मा को पहिचानो।

भगवान कुंदकुंदाचार्य को अंजलि

[भगवान कुंदकुंदाचार्य के प्रति भक्ति भाव से परिपूर्ण यह स्तवन संवत् १९९४ की ज्येष्ठ कृष्णा ८ के दिन सुवर्णपुरी-सोनगढ़ के स्वाध्यायमंदिर में श्री समयसारजी की प्रतिष्ठा के समय श्री कुंदकुंदाचार्य के उपकारों के स्मरणार्थ रचा गया था और पौष कृष्णा ८ के दिन कुंदकुंद भगवान ने 'शासन के रक्षक' की महान पदवी (आचार्य पदवी) प्राप्त की थी। आचार्य श्री कुंदकुंद भगवान के शासन पर महानतम उपकार वर्तमान हैं। इस पौष कृष्णा ८ के शुभ प्रसंग पर उन सबकी स्मृति में 'भगवान कुंदकुंदाचार्य की अंजलि' शीर्षक गुजराती स्तवन का हिन्दी भावानुवाद तथा अर्थ यहाँ दिया जाता है।]

लाखों बार प्रणाम

सुख शांति प्रदाता जग के त्राता कुंदकुंद महाराज;
जनभ्रांति विधाता तत्त्वज्ञाता नमन करूं मैं आज।
जड़ता का इस धरणी ऊपर रहा प्रबल अधिकार;
किया उपकार अपार प्रभु! तुम रचकर गंग उदार रे सुख....१
वरसाकर निज वचन सुधारस, किया सुशीतल लोक;
समयसार का पार किया जब गया मानसिक शोक रे सुख....२
तब ग्रंथों के मनन करन सें पाऊँ अलौकिक भान;
क्षण क्षण में मैं ज्ञायक सुमरूं पाऊँ केवलज्ञान रे सुख.....३
तेरा मन प्रभु! ज्ञान समता का रह्या निरंतर धाम;
उपकारो की विमल याद में लाखों बार प्रणाम रे सुख....४

— भावार्थ —

मैं आज (ज्येष्ठ कृष्णा ८ के दिन श्री समयसारजी की प्रतिष्ठा के समय) श्री कुंदकुंद भगवान को नमस्कार करता हूँ। कैसे हैं वे कुंदकुंद भगवान! सुख और शांति के देनेवाले हैं, जगत की रक्षा करनेवाले अर्थात् जगत् के जीवों को अज्ञानजनित भावमरण से बचानेवाले हैं, अज्ञानी जीवों की विपरीतमान्यता को मिटानेवाले हैं और वस्तुस्वरूप के ज्ञाता है।

अब उनके उपकारों का स्मरण किया जाता है। जब परद्रव्य के कर्तृत्व—ममत्व और अज्ञानजनित क्रियाकांडों का इस भरतक्षेत्र में खूब बोलवाला था (और यथार्थ समझ दुर्लभ हो गई थी), उस समय हे कुंदप्रभु! आपने समयसारजी, नियमसारजी, प्रवचनसारजी, इत्यादि अनेक महान् शास्त्रों की रचना करके बहुत बहुत उपकार किया है। मैं आज (उपरोक्त गुणसंपन्न) कुंदकुंद भगवान को नमस्कार करता हूँ॥१॥

भावमरण में जलते हुए जगत के जीवों को अपने अमृतरसमय अध्यात्मोपदेश वचनों के द्वारा कुंदकुंद भगवान ने भलीभांति शांत किया है। आपके रचे हुये महान् ग्रंथ श्री समयसार का श्रवण-मनन करने से मन का शोक दूर हुआ है अथवा दूसरा ऐसा ही अर्थ निकलता है कि—कुंदकुंद भगवान के वचनरूपी अमृत के द्वारा शुद्धात्मस्वरूप का अनुभव करने से राग-द्वेषरूप मानसिक शोक का नाश हुआ। मैं भगवान कुंदकुंदाचार्य को नमस्कार करता हूँ॥२॥

हे कुंदकुंददेव! आपके द्वारा रचे गये श्री समयसार आदि ग्रंथों का मनन-चिंतवन करने से मैं अलौकिक आत्मस्वरूप की पहिचान कर सकूँ तथा (उस पहिचान के द्वारा परिज्ञात) ज्ञायकस्वरूप का-मात्र ज्ञाता शुद्ध आत्मा को प्रत्येक क्षण में निरंतर स्मरण करूँ-अनुभव करूँ और अंत में उस ज्ञायकस्वरूप में पूर्ण स्थिरता करके केवलज्ञान प्राप्त करूँ। हे कुंदकुंद प्रभु! आपकी ऐसी महिमा है। मैं कुंदकुंद प्रभु को नमस्कार करता हूँ॥३॥

हे परम उपकारी कुंदकुंद प्रभु! तुम्हारा अंतरंग, अध्यात्म ज्ञान और वैराग्य भावों से निरंतर परिपूर्ण है। तुम्हारे महान् उपकारों के पवित्र स्मरणार्थ मैं लाखों बार नमस्कार करता हूँ, पुनः पुनः वंदन करता हूँ। हे कुंदकुंद भगवान! मैं आपको नमस्कार करता हूँ॥४॥

करुणासागर, परमोपकारी परमपूज्य भगवान श्री कुंदकुंदाचार्य

प्रस्तुतकर्ता श्री रामजीभाई माणेकचंद दोशी

[जिनकी उत्कृष्ट करुणा से भरतक्षेत्र के भव्य जीव आज वीतराग-वाणी का श्रवण-मनन कर रहे हैं, उन श्री कुंदकुंदाचार्यदेव का संक्षिप्त जीवन चरित्र प्रगट किया जा रहा है। इस चरित्र को आत्मधर्म के पाठक उनके आचार्यपद के दिन—पौष कृष्णा ८ के प्रसंग पर मननपूर्वक पढ़कर आचार्यदेव के द्वारा रचे गये सत्शास्त्रों (परमागमों) का निरंतर अध्ययन करके मनुष्य जन्म को सफल बनायोंगे, ऐसी आशा है।]

भगवान कुंदकुंदाचार्य विक्रम संवत् के प्रारंभ में हुये हैं। जैन परंपरा में उनका सर्वोत्कृष्ट स्थान है।

मंगलं भगवान वीरो मंगलं गौतमो गणी।
मंगलं कुंदकुंदार्यो जैनधर्मोऽस्तु मंगलं॥

प्रत्येक दिगम्बर जैन शास्त्राध्ययन के प्रारंभ में इस श्लोक को मंगलाचरण के रूप में बोलता है, इससे सिद्ध होता है कि सर्वज्ञ भगवान श्री महावीरस्वामी और गणधर भगवान श्री गौतमस्वामी के बाद तत्काल ही भगवान कुंदकुंदाचार्य का स्थान आता है। दिगम्बर जैन साधु अपने को कुंदकुंदाचार्य की परंपरा का कहलवाने में गौरव मानते हैं।

भगवान कुंदकुंदाचार्यदेव के शास्त्र साक्षात् गणधरदेव के वचनों के समान ही प्रमाण माने जाते हैं।

उनके गुरु और आचार्य पद — उनके गुरु जिनचंद्राचार्य थे। उनका दूसरा नाम कुमारनंदि था। वे सिद्धांत में बहुत प्रवीण थे, इसलिये उन्हें 'सिद्धांतदेव' का बिरुद प्राप्त हुआ था। वे अवधिज्ञानी मुनि थे। वे महा मनोनिग्रही थे, उनके सभी शिष्य उनके सम्यग्ज्ञान और चारित्र को देखकर सदा नत रहा करते थे। उनने अपने सभी शिष्यों को वीतरागी, सैद्धांतिक ज्ञान में प्रवीण बनाया था। वे अपनी अस्खलित वाणी से समस्त जीवों को धर्मोपदेश देते थे। जब उनकी आयु ६५ वर्ष की हो गई, तब उनने अपना अंतकाल समीप जानकर अपने पट्ट शिष्य कुंदकुंद मुनि को स्वतः आचार्य पद पर बिठाया और स्वयं समाधिस्थ हो गये। कुंदकुंदाचार्य के इस पट्टाभिषेक का परम पवित्र दिन पौष कृष्णा ८ है।

आचार्य पद की प्राप्ति के बाद का समय—जब भगवान कुंदकुंदाचार्य आचार्यपद पर बिराजमान हुये, तब उनकी उम्र ४४ वर्ष की थी। उनकी योग्यता को देखकर उनके गुरु ने उन्हें ११

वर्ष की आयु में दीक्षा दी थी। जब वे आचार्य पद पर विराजित हुये, तब उनका साधु जीवन ३३ वर्ष का हो चुका था। वे ५१ वर्ष और १० मास आचार्य पद रहे थे। ९५ वर्ष और १० मास की आयु में उनका स्वर्गवास हुआ था।

उनके आचार्यत्व के नीचे अनेक शिष्यों की मंडली थी। भगवान कुंदकुंदाचार्य ने आचार्य पद को अति उत्तमतया प्रशोभित किया था। वे अपने शिष्यों को भेजकर धर्मोपदेश का प्रयास सतत् चालू रखते थे। उनका आचार्यपद सर्वोत्कृष्ट और अजोड़ सिद्ध हुआ।

सर्वज्ञ भगवान महावीर के निर्वाण के पश्चात् ६८३ वर्षों तक अंगों का ज्ञान अल्पाधिक रूप में रहा था, किन्तु उसके बाद वह ज्ञान क्रमशः कम होने लगा, स्मरणशक्ति कम होती गई। उस समय की जैनशासन की स्थिति को देखकर उनने आत्मा के शुद्ध स्वरूप को बतानेवाले अनेक शास्त्रों को रचा था। उस समय की परिस्थिति निम्नलिखित स्तुति में यथार्थ रीत्या वर्णन की गई है—

''संसारी जीवनां भावमरणो टालवा करुणा करी;
सरिता बहावी सुधातणी प्रभु वीर तें संजीवनी;
शोषाती देखी सरितने करुणा भीना हृदये करी,
मुनि कुंद संजीवनी समयप्राभृत तणे भाजनभरी।''

उनके रचे हुये शास्त्रों की उत्तमता—भगवान कुंदकुंदाचार्य ने अपने परमागमों में तीर्थंकरदेवों के उत्तमोत्तम सिद्धांतों को सुरक्षित रखा है और मोक्षमार्ग को स्थिर रखा है। उनके बाद होनेवाले सभी आचार्य अपने कथन की पुष्टि के लिये उनके ग्रंथों का प्रमाण देते हैं।

कुंदकुंद भगवान का विदेहक्षेत्र गमन

[अनुष्टुप]

बिक्रमशक प्रारंभे, घटना एक बनी महा;
विदेही ध्वनिना रण का, जेथी आ भरते मल्या।
विक्रम शक प्रारंभ में घटना एक घटी महा।
ध्वनि विदेह की उस समय भरतक्षेत्र गूंजी अहा!॥१॥

अर्थ—विक्रम संवत् के प्रारंभ में एक अद्भुत घटना घटी, जिससे कि विदेहक्षेत्रवर्ती साक्षात् तीर्थंकर भगवान की दिव्यध्वनिमयी उपदेश का रहस्य भरतक्षेत्रवासियों को प्राप्त हुआ। उस प्रसंग का यहाँ वर्णन किया जाता है।

शार्दूलविक्रीडित

बहु ऋद्धिधारी कुंदकुंद मुनि थया ए काळमां
जे श्रुतज्ञान प्रवीणने अध्यात्मरत योगी हता;
आचार्य ने मन एकदा जिनविरह ताप थयो महा,
रे! रे! सीमंधर जिनना विरहा पडया आ भरतमां!
बहु ऋद्धिधारी कुंदकुंदमुनि हुए उस काल में।
श्रुतज्ञानधर अध्यात्मरत ज्ञानी हुये उस काल में॥
इक दिवस प्रभु से मिलन की इच्छा हुई उनको महा।
जिननाथ का भारी विरह मुनिनाथ से न गया सहा॥

अर्थ—उस काल में भरतक्षेत्र में महा ऋद्धिारी श्री कुंदकुंदाचार्य हुये, जो सर्वदा अध्यात्म में लवलीन एवं शास्त्रज्ञान में प्रवीण थे। एक दिन श्री सीमंधर भगवान से मिलने की उन्हें उत्कट इच्छा हुई। प्रभु के दर्शन बिना वे व्याकुल हुये, बिना दर्शन के उनसे न रहा गया।

शार्दूलविक्रीडित

एकाएक छूटयो ध्वनि जिनतणो 'सद्धर्म वृद्धि हजो'
सीमंधर जिनना समोसरणमां ना अर्थ पाम्या जनो;
संधिहीन ध्वनि सूणी परिषदे आश्चर्य व्याख्युं महा,
थोडीवार मंही तहीं मुनि दीठा अध्यात्ममूर्ति समा।
जोडी आथ उभा प्रभु प्रमणता, शी भक्तिमां लीनता!
नानो देह अने दिगंबरदशा, विस्मित लोको थता;
चक्री विस्मय भक्तिथी जिन पूछे हे नाथ! छे कोण आ
-छे आचार्य समर्थ ए भरतना सद्धर्मवृद्धि करा।
एकाएक हुई ध्वनि प्रथित जो आचार्य कारी महा।
'हो सद्धर्म समृद्धि' अर्थ समझा कोई न प्राणी वहाँ॥
सीमंधर जिन के समोशरण में आये मुनि सत्तम।
सोचा यों सबने कि कौन आया योगी मुनि उत्तम॥
जोड़े हाथ किया प्रणाम प्रभु को थे भक्ति में लीन वे।
छोटी देह तथा दिगंबर दशा थे आत्म-आधीन वे॥

चक्री ने आश्चर्य युक्त पूछा 'हे नाथ! हैं कौन ये?'
'हैं आचार्य समर्थ ये भरत के, भक्ति भरे मौन ये'॥

अर्थ—महाविदेहक्षेत्र में साक्षात् तीर्थंकर श्री सीमंधर भगवान विराजित हैं। इतने में ही उनके समोशरण में अचानक ध्वनि खिरी कि 'सद्धर्म वृद्धि हो।' इस आशीर्वादरूप अचानक ध्वनि खिरने का कारण समोशरण स्थित कोई जीव न जान सका, अत: सभी आश्चर्यचकित हुये। थोड़ी देर में समोशरण में सबने देखा कि एक अध्यात्म मूर्ति मुनिराज वहाँ उपस्थित हुए।

मुनिवर हाथ जोड़कर भक्ति में तन्मय होकर प्रभु को नमस्कार कर रहे थे। उनके लघु किन्तु तेजोमयी शरीर को देखकर (क्योंकि विदेहक्षेत्र में ५०० धनुष का शरीर होता है परंतु आचार्य भगवान का शरीर प्रमाण मात्र ३½ हाथ ही था।) सभी को विस्मय हुआ। समोशरण में बैठे हुये चक्रवर्ती ने भी प्रभु से पूछा कि 'हे नाथ! यह कौन हैं'? तब दिव्यध्वनि द्वारा प्रभु ने उत्तर दिया कि ये भरतक्षेत्र के सत्यधर्म की वृद्धि करनेवाले महान् आचार्य हैं।

सूणी ए वात जिनवरनी हर्ष जनहृदये वहे;
नानकडा मुनिकुंजरने 'एलाचार्य' जनो कहे।
सुनी यह बात जिनवर की, प्रमुदित हुये नर नारि वे
शुभनाम 'एलाचार्य' रख, उनको रहे थे पुकार वे॥

अर्थ—श्री सीमंधरस्वामी बात सुनकर वहाँ के नर-नारी बड़े प्रसन्न हुये और उन लघु शरीरी मुनि कुंजर को 'एलाचार्य' के नाम से संबोधित करने लगे॥

—हरिगीतिका—

प्रत्यक्ष जिनवर दर्शने बहु हर्ष एलाचार्यने,
ॐकार सूणतां जिनतणो, अमृत मल्युं मुनिहृदयने;
सप्ताह एक सूणी ध्वनि, श्रुतकेवली परिचय करी
शंका निवारण सहु करी मुनि भरतमां आव्य फरी
प्रत्यक्ष जिनवरदर्श से बहु हर्ष था आचार्य को।
ॐकार धुनि से नाथ की अमृत मिला मुनि हृदय को॥
सप्ताह एक ध्वनी सुनी, श्रुतकेवली गण से मिले।
शंकानिवारण कर भरत में आ गये हर्षित खिले॥

अर्थ—श्री सीमंधर भगवान के प्रत्यक्ष दर्शनों से आचार्यदेव को महान हर्ष हुआ। वहाँ उन्होंने एक सप्ताह तक भगवान की दिव्यध्वनि का श्रवण किया, श्रुतकेवलियों से परिचय किया, उनकी समस्त शंकाओं का निराकरण हो गया। वे हर्षित हो भरतक्षेत्र में पुनः पधार गए।

शास्त्र रचना

—वसंततिलका—

वीरनो ध्वनि गुरुपरंपर जे मळेलो,
पोते विदेह जइ दिव्य ध्वनि झीलेलो;
ते संघर्यो मुनिवरे परमागमोमां,
उपकार कुंद मुनिनो बहु आ भूमिमां॥

गुरु की परम्परा से ध्वनि वीर की मिली जो।
जाके विदेहक्षिति में खुद ने सुनी जो॥
गूंथी सभी वह परमागमों में।
करती प्रकाश नित सज्जन के दिलों में॥

अर्थ—भरतक्षेत्र के अंतिम तीर्थंकर श्री महावीर की दिव्यध्वनि का जो उपदेश गुरु परम्परा से प्राप्त हुआ तथा स्वयं विदेहक्षेत्र में जाकर श्री सीमंधर भगवान की दिव्यध्वनि जो सुनी, उस सबका रहस्य श्री कुंदकुंदाचार्य ने परमागमों में भर दिया है। इस प्रकार से श्री कुंदकुंद भगवान का इस क्षेत्र पर बड़ा उपकार है।

आ क्षेत्रना चरम जिन तणा सुपुत्र,
विदेहना प्रथम जिन तणा सुभक्त;
भवमां भूलेल भवि जीव तणा सुमित्र,
वंदुं तने फरी फरी मुनि कुंदकुंद!

इस क्षेत्र के, चरम भगवान के सुपुत्र
संसार व्याधि परिपीड़ित के सुमित्र
हे नाथ सीमंधर के सुभक्त
वंदन सदा हो, शुभ आत्म-रक्त॥

अर्थ—भरतक्षेत्र के अंतिम तीर्थंकर श्री महावीर के पुत्रस्वरूप तथा विदेहक्षेत्रवर्ती आदि

जिन श्री सीमंधरस्वामी के परमभक्त तथैव संसार के अज्ञानी एवं दु:खीजनों को सम्यक् मार्ग दिखानेवाले सच्चे मित्र, हे कुंदकुंदभगवान! आपको पुन: पुन: वंदन हो।

—अनुष्टुप—

नमुं हुं तीर्थनायकने, नमुं ॐकार नादने;
ॐकार संघर्यो जेणे, नमुं ते कुंदकुंदने।
तीर्थाधिपति को मैं नमूँ ॐकार धुनि को मैं नमूँ।
ॐकार के रक्षक तथा श्री कुंदमुनि को मैं नमूँ॥

अर्थ— श्री तीर्थंकर भगवान को मैं नमस्कार करता हूँ, श्री ॐकार ध्वनि दिव्यध्वनि को मैं नमस्कार करता हूँ, एवं दिव्यध्वनि के रहस्य के संग्राहक श्री कुंदकुंदस्वामी को मैं नमस्कार करता हूँ।

संवत् ९९० के काल में विद्यमान श्री देवसेनाचार्य दर्शनसार नाम के ग्रंथ में कहते हैं कि—

जइ पडमणंदिणाहो सीमंधर सामि दिव्यनाणेण।
ण विवोहइतो समणा कहं सुमग्गं पयाणंति॥

—संस्कृत छाया—

यदि पद्मनंदिनाथ: सीमंधर स्वामि दिव्यज्ञानेन।
न विबोधति तर्हि श्रमणा: कथं सुमार्गं प्रजानन्ति॥

अर्थ— श्री सीमंधर भगवान के पास से प्राप्त किये गये, दिव्य ज्ञान द्वारा यदि श्री पद्मनंदिनाथ (श्री कुंदकुंदाचार्य) सत्य ज्ञान का बोध न देते तो मुनिगण सत्य मार्ग को किस तरह पहचानते ?

बारहवीं शताब्दी में होनेवाले श्री जिनसेनाचार्य श्री पंचास्तिकाय की संस्कृत टीका रचते हुये कहते हैं कि—"अब प्रसिद्ध कथा के न्यायानुसार पूर्व विदेह में जाकर श्री वीतराग-सर्वज्ञ श्री सीमंधर भगवान की दिव्यध्वनि को सुनकर, मनन कर, शुद्धात्मतत्त्वादि अर्थ ग्रहण करके विदेहक्षेत्र से लौटकर श्री कुंदकुंदस्वामी ने आत्मतत्त्व की प्रधानता तथा बहिर्तत्त्व (कर्म पुद्गलादि) की गौणता प्रतिपादन करने के लिये अथवा शिवकुमार आदि संक्षेप रुचिवाले शिष्यों के प्रति बोधनार्थ पंचास्तिकाय प्राभृत शास्त्र रचा है।

सातवें और छठे गुणस्थान में बिराजनेवाले ये दोनों मुनि थे, अत: इनका कथन संपूर्ण विश्वसनीय है। भगवान कुंदकुंदाचार्य चारणऋद्धि के धारी थे, यह बात चंद्रगिरि और विन्ध्यागिरि के शिलालेखों से भलीभांति जानी जा सकती है।

वर्तमान पौद्गलिक विज्ञान और विमान यंत्रों के युग में आध्यात्मिक विज्ञान और ऋद्धिधारीओं की शक्ति से अपरिचित जीव अपने ज्ञान के गज से नापें तो उन्हें यह घटना भले समझ में न आये किन्तु चारणऋद्धि जैसी असाधारण शक्ति को धारण करनेवाले महात्मा विदेहक्षेत्र की दुर्गम यात्रा कर सकते हैं, यह उनके लिये एक साधारण काय है। ऋद्धिधारियों को सुदुरवर्ती क्षेत्रों में तथा किसी आकाशगामी व्यक्ति के साथ जाने के लिये मार्ग की विषमता अथवा दुर्गमता किंचित्मात्र भी बाधक नहीं होती।

भगवान कुंदकुंदाचार्य ने अपने बनाये हुये शास्त्रों में कहीं भी अपना नाम कर्ता के रूप में नहीं दिया। तथा अपने गुरु तथा संघ का भी नाम नहीं दिया। आत्मलीन पुरुष इन बाह्य वस्तुओं को गौण कर दें, यह न्याय संगत है और इसीलिये भगवान कुंदकुंदाचार्य ने अपनी इस विदेहगमन यात्रा का भी कहीं वर्णन नहीं किया किन्तु उनने अपने बनाये हुये शास्त्रों में 'सर्वज्ञवीतरागदेव कहते हैं कि' इस प्रकार लिखकर अनेक स्थलों पर अपने कथन को वीतरागदेव की साक्षी से दृढ़ किया है, और श्री प्रवचनसार की तीसरी गाथा में विदेहक्षेत्र के वर्तमान तीर्थंकरदेवों को नमस्कार किया है तथा वे श्रुतकेवली भद्रबाहु के अनुयायी (परम्परा) शिष्य हैं। यह अष्टपाहुड़ में लिखकर नमस्कार किया है। यह बात हमें लक्ष्य में रखना चाहिये।

उनके बनाये हुये शास्त्र

भगवन कुंदकुंद के बनाये हुये अनेक शास्त्र हैं, जिनमें से वर्तमान में कुछ विद्यमान हैं। श्री सर्वज्ञदेव की दिव्यध्वनिरूप प्रवाहित श्रुतसारिता में से भरे हुये वे अमृत कलश वर्तमान में अनेक आत्मार्थियों को आत्म-जीवन अर्पण कर रहे हैं। वर्तमान में उनके बनाये हुये निम्न शास्त्र उपलब्ध हैं:—

(१) समयसार, (२) प्रवचनसार, (३) पंचास्तिकाय, (४) नियमसार, (५) अष्टपाहुड़, (६) दशभक्ति आदि। ये सभी शास्त्र उत्तम हैं परन्तु इनमें सर्वोत्तम समयसार है।

बनाऊँ पत्र सोने के तथा रत्नों के अक्षर हों।
तथापि कुंदसूत्रों का, न मूल्यांकन कहीं पर हों॥

समयसार

समयसार यह शास्त्र जो अमृतरस सागर भरा।
डूबा इसमें जो अहो! वह भवसागर से तरा॥

श्री समयसार अलौकिक शास्त्र है। आचार्य भगवान ने जगत जीवों पर परम करुणा करके इस शास्त्र को रचा है। इसमें मोक्षमार्ग का यथार्थ स्वरूप बताया गया है। अनंत काल से परिभ्रमण करते हुये जीव को जो कुछ समझना शेष रह गया है, वह सब इसमें निहित है। परम कृपालु आचार्यदेव इस शास्त्र को प्रारंभ करते हुए स्वयं ही कहते हैं कि ''काम, भोग, बंधन की कथा तो सबने ही सुनी है, अनुभवी है, परिचय किया है, किन्तु परतत्त्व से पृथक् एकत्व की प्राप्ति ही केवल दुर्लभ है, उसी एकत्व की-पर से पृथक् शुद्धस्वरूपी आत्मा की बात मैं इस शास्त्र में कहूँगा। अपने अनुभव से, आगम से, युक्ति से, परम्परागत ज्ञान से अर्थात् अपनी पूर्ण शक्ति से कहूँगा।'' इस तरह प्रतिज्ञापूर्वक आचार्यदेव ने आत्मा का एकत्व परद्रव्य से और परभावों से भिन्न बतलाया है। वे कहते हैं कि—''जो आत्मा को अबद्धस्पृष्ट, अनन्य, नियत, अविशेष, असंयुक्त देखता है, वह समग्र जैन शासन को देखता है।'' वे और भी कहते हैं कि ऐसा न देखनेवाले अज्ञानी के सभी भाव अज्ञानमय हैं।

इस तरह से जबतक जीव को अपनी शुद्धता का अनुभव नहीं होता, तबतक वह मोक्षमार्गी नहीं हो सकता, भले ही वह व्रत, समिति, गुप्ति आदि व्यवहार चारित्र पाल ले और चाहे सर्व आगमों को भी पढ़ ले। जिसे शुद्ध आत्मा का अनुभव होता है, वही सम्यग्दृष्टि है। रागादि के उदय में समकिती जीव कभी भी एकाकाररूप परिणमता नहीं है। वह सर्वदा यही अनुभव करता है कि यह पुद्गल कर्मरूप राग का विपाकरूप उदय है। यह मेरा भाव नहीं, मैं तो मात्र ज्ञायकरूप हूँ। यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि रागादि भावों के होते हुये भी आत्मा शुद्ध कैसे हो सकता है? इसका उत्तर इस तरह है कि जैसे स्फटिकमणि रक्तवस्त्र की छाया पड़ने से रक्त हो जाता है, वास्तव में वह श्वेत या निर्मल है। इसी प्रकार आत्मा, रागादि कर्मोदय के कारण रागी-द्वेषी दिखाई देता है, वास्तव में शुद्धनय से आत्मा निर्मल ही है। पर्यायदृष्टि से अशुद्धता होने पर भी, द्रव्यदृष्टि (द्रव्य की अपेक्षा) से शुद्धता का ज्ञान हो सकता है। ऐसा अनुभव चतुर्थ गुणस्थान से प्रारंभ हो जाता है। सम्यग्दृष्टि का दृष्टिकोण ही बदल जाता है। वह प्रत्येक कार्य करते समय शुद्ध आत्मा का ही अनुभव करता है। जैसे जिह्वा लोलुपी आदमी नमक और शाक के स्वाद को भिन्न नहीं कर सकता, वह तो कहता है कि बड़ा स्वाद बना है, इसी प्रकार अज्ञानी व्यक्ति ज्ञान और राग को भिन्न-भिन्न नहीं जान सकता है। जैसे अलुब्ध संयमी व्यक्ति शाक और नमक दोनों के स्वादों को पृथक्तया अनुभव कर सकता है, उसी तरह सम्यग्दृष्टि, ज्ञान को राग से पृथक् अनुभव कर सकता है। यदि

कोई पूछे कि ऐसा सम्यग्दर्शन कैसे प्राप्त हो ? तो उसका उत्तर आचार्यदेव इस प्रकार कहते हैं कि—''प्रज्ञारूपी छैनी से छेदने पर वे पृथक् प्रतिभासित होने लगते हैं। अर्थात् ज्ञान से, यथार्थ वस्तुस्वरूप की पहचान से, अनादिकाल से रागादिरूप परिणमता हुआ आत्मा भी भिन्नरूप प्रतीत होने लगता है, इसके सिवाय अन्य कोई उपाय नहीं। अत: प्रत्येक जीव को वस्तु के यथार्थ स्वरूप को जानने की कोशिश करनी चाहिये।

यथार्थ आत्मस्वरूप की पहिचान करना ही इस शास्त्र का मुख्य उद्देश्य है। इस उद्देश्य की पूर्त्यर्थ आचार्यश्री ने इसमें अनेक विषयों का निरूपण किया है। यथा-जीव और पुद्गल का निमित्त-नैमित्तिकभाव होने पर भी दोनों का बिल्कुल स्वतंत्र परिणमन; ज्ञानी को राग-द्वेष का अकर्तापन तथा अभोक्तापन; अज्ञानी को राग-द्वेष का कर्ता तथा भोक्तापन; सांख्यदर्शन की एकांतिकता; गुणस्थान आरोहण में द्रव्य-भाव की निमित्त नैमित्तिकता; विकाररूप परिणमन में अज्ञानी का अपना ही दोष; पुण्य-पाप का बंध स्वरूप; मिथ्यात्वादि का जड़पना एवं चैतन्यपना; मोक्षमार्ग में चरणानुयोग का स्थान इत्यादि अनेक विषय इस शास्त्र में प्ररूपित हैं।

इन सबका उद्देश्य भव्य जीवों को मोक्षमार्ग की प्राप्ति कराना है। इस शास्त्र की महत्ता अवलोकित कर उल्लास भावपूर्वक श्री जिनसेनाचार्य कहते हैं कि—''जयवंत हों वे पद्मनंदि (कुंदकुंद) आचार्य कि जिन्होंने महातत्त्व से भरा हुआ प्राभृतरूपी पर्वत को अपने बुद्धिरूपी सिर पर उठाकर भव्य जीवों को समर्पित किया है। वास्तव में इस काल में यह शास्त्र मुमुक्षुओं-भव्यजीवों का परम आधार है। इस दुषम काल में भी तीर्थंकर भगवान की अमृतमयी दिव्यध्वनि का साररूप, अद्भुत, अनन्य शरणरूप शास्त्र विद्यमान है, यह हमारा सद्भाग्य है। निश्चय-व्यवहार की संधिपूर्वक यथार्थ मोक्षमार्ग की ऐसी संकलनाबद्ध प्ररूपणा अन्य किसी शास्त्र में नहीं है। परम पूज्य सद्गुरुदेव के शब्दों में कहूं तो ''यह समयसार शास्त्र आगमों का भी आगम है, जैन शासन का स्तंभ है, लाखों शास्त्रों का निचोड़ है। साधक की कामधेनु है, कल्पवृक्ष है, चौदह पूर्व के रहस्य से पूर्ण है।'' इसकी प्रत्येक गाथा छठे-सातवें गुणस्थान में झूलनेवाले महामुनि के आत्मानुभव से निकली हैं। इस शास्त्र के कर्ता भगवान कुंदकुंदाचार्यदेव महाविदेह में सर्वज्ञवीतराग श्री सीमंधर भगवान के समोशरण में गये थे और वहाँ एक सप्ताह रहे थे। यह बात यथार्थ है, अक्षरश: सत्य है, प्रमाण सिद्ध है, उसमें शंका के लिये लेशमात्र भी स्थान नहीं है। उन परम उपकारी आचार्य भगवान द्वारा रचे गये इस समयसार में तीर्थंकरदेव की निरक्षरी ॐकारध्वनि में से निकला हुआ उपदेश है।

प्रवचनसार

इस ग्रंथ में आचार्यदेव ने सर्व प्रथम पंचपरमेष्ठी को नमस्कार करके आत्मा और उसके गुणों के विकास का वर्णन किया है। सरागचारित्र कर्मबंध का कारण होने से हेय है और वीतराग चारित्र (विराग चारित्र) मोक्ष प्राप्ति का साधन होने से उपादेय है। आत्मस्वरूप के सन्मुख हुआ चारित्र ही वस्तुस्वरूप है, अत: वही धर्म है। आकुलतारहित आत्मा का परिणाम ही समभाव है अर्थात् रागरहित स्वरूपस्थिरता ही आत्मा का स्वभाव या आत्मा का धर्म है।

शुभोपयोग अर्थात् पंच परमेष्ठी का सविकल्प ध्यान, आत्मा का चिंतवन, व्रत, तपश्चरण का अभ्यास होना, ये सब शुभ क्रियाऐं हैं। इनके फलस्वरूप आत्मा, देव या मनुष्य पर्याय में नाना प्रकार के बाह्य लाभ संपत्ति आदि प्राप्त करता है, परन्तु इस बाह्य लाभ में आत्मा का वास्तविक अविनाशी सुख नहीं।

शुद्धोपयोग धारण करने से समस्त दु:ख और क्लेशों का स्वयं नाश हो जाता है। जो जीव सिद्ध भगवान के स्वरूप को पूर्णतया जान लेता है, वह अपनी आत्मा के स्वरूप को भी पूर्णतया जान लेता है, आत्मा परमात्मा भ्रम का (भेद) उसकी दृष्टि से दूर हो जाता है और इसलिये आत्मा अरहंतदशा को प्राप्त हो जाता है तथैव समग्र कर्मों का नाशकर मुक्ति को प्राप्त करता है। आत्मा और परमात्मा के विवेक से ही सम्यग्ज्ञान का विकास होता है।

विश्व में जितने द्रव्य हैं, वे सर्व भिन्न-भिन्न गुण-पर्याय सहित ज्ञेय हैं। उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्त होना द्रव्य का लक्षण है। इसलिये प्रत्येक वस्तु प्रतिक्षण परिणमनशील है। अर्थात् एक पर्याय का व्यय होता है, अन्य अवस्था का उत्पाद होता है, एवं द्रव्यरूप 'सत्' भाव सर्वदा विद्यमान है ही।

द्रव्य दो प्रकार के हैं-चेतन एवं अचेतन। जीव चेतनास्वरूप है, अजीव जड़स्वरूप (ज्ञानशून्य) है। पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये पाँच भेद अजीवद्रव्य के हैं। ये सब द्रव्य लोकाकाश में रहे हुये हैं। अलोकाकाश में मात्र एक आकाश है। कालद्रव्य बहुप्रदेशी नहीं, अन्य सर्व द्रव्य बहु प्रदेशी हैं, अत: वे अस्तिकाय कहलाते हैं।

आत्मा चैतन्यस्वरूप है। शुभ और अशुभरूप ये दो प्रकार के रागादिसहित उपयोग अशुद्ध चेतनास्वरूप हैं, रागरहित उपयोग शुद्धचेतनास्वरूप हैं।

अपने विकास या मलिनता का कारण आत्मा स्वयं ही है। जब राग-द्वेषादि पृथक् होकर

अपने स्वरूप में एकाकार हो जाता है, तभी इसका यथार्थ स्वरूप प्रगटित होता है। आत्मा स्वभाव से ही सर्व वस्तुओं का ज्ञाता है। सर्व वस्तुओं से उसका ज्ञेय-ज्ञायक संबंध ही है, स्वामीपने का या कर्तापने का कोई संबंध नहीं।

पंचास्तिकाय

इस ग्रंथ में आचार्यदेव ने १७२ गाथाओं द्वारा जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म तथा आकाश इन पाँचों द्रव्यों को गुण-पर्यायों के तथा ''सत्'' भाव के द्वारा ''अस्तिरूप'' सिद्ध किया है एवं बहु प्रदेशी होने से ''कायरूप'' बताया है। ऐसे द्रव्य पाँच हैं। अत: ये पंचास्तिकाय हैं। उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य युक्त होने से यही लोक रचना के कारण हैं, यह निरुपित किया है।

इस पंचास्तिकाय द्रव्य के सदा बदलने से कालद्रव्य का अस्तित्व भी निश्चित हो जाता है। वह कालद्रव्य असंख्यात हैं, परन्तु प्रत्येक एक प्रदेशी है, इसीलिये यह अस्तिकाय नहीं है। फिर भी प्रकरणवश आवश्यकतानुसार कहीं कहीं गौणरूप से उसका वर्णन किया गया है। प्रत्येक द्रव्य की सत्ता दूसरे द्रव्यों की सत्ता से सर्वथा पृथक् है। तदनंतर आचार्यदेव ने जीवद्रव्य की संसारी और मुक्त अवस्थाओं का विस्तार से वर्णन किया है। तत्पश्चात् पुद्गलद्रव्य के परमाणु, और उनके स्कन्ध, इत्यादि का वर्णन है। पश्चात् धर्म, अधर्म दोनों द्रव्यों को दृष्टान्त सहित समझाया है और लोकाकाश-अलोकाकाश की व्याख्या है। कालद्रव्य का भी संक्षिप्त वर्णन किया है।

तदनंतर जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष, पुण्य और पाप इन नौ तत्त्वों का विस्तार से कथन किया है।

सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र और रत्नत्रय की व्याख्या कर, उसे मोक्ष का साधन सिद्ध किया है।

जीव और अजीव का परस्पर संबंध यानी निमित्तपना बताया है। पुण्य को शुभ और पाप को अशुभ परिणामरूप कहा है। शुभभाव से शुभकर्म तथा अशुभभाव से अशुभकर्म बँधते हैं। अत: कर्मबंध से छूटने के लिये दोनों को त्यागकर शुद्धभाव (आत्मभाव) जागृत करने का उपदेश दिया है।

शुद्धोपयोग द्वारा परमपद (मोक्ष) प्राप्त करके अनंतज्ञान, अनंतदर्शन, अनंतसुख, अनंतवीर्य इन अनंत चतुष्टयरूप अपने स्वभाव में आत्मा लीन (स्थित) हो जाती है। अनादिकाल की अपनी विकारी अवस्था का परित्याग कर आत्मा स्वाभाविक निर्विकार अवस्था को प्राप्त हो जाती है।

नियमसार

अध्यात्मज्ञान से परिपूर्ण इस ग्रंथ में १८७ गाथा एवं १२ अधिकार हैं। १९ गाथावाले प्रथम जीवाधिकार में आचार्यदेव ने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्ररूप रत्नत्रय को 'नियम' संज्ञा दी है। क्योंकि नियमतः इनके द्वारा ही मोक्षमार्ग की प्राप्ति है अथवा यही मोक्षमार्ग है और यही साररूप ग्राह्य है। इस तरह 'नियमसार' जो ग्रंथ का नाम दिया, उसका अर्थ रत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग किया है।

तदनंतर क्षुधा, तृषा, भय, राग-द्वेष, चिंता, मोह, जरा, रोग, मृत्यु, खेद, स्वेद, मद, अरति, आश्चर्य, निद्रा, जन्म, शोक इन अठारह दोषों से रहित एवं केवलज्ञानादि आत्मिक ऐश्वर्यसहित परमात्मा, आप्त अर्थात् पूज्य कहलाते हैं। पूर्वापरविरोध रहित शुद्ध, हितकर एवं मधुर वचनों को आगम कहते हैं। आगम में कहे हुये गुण-पर्यायों से युक्त जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल, ये छह द्रव्य ही तत्त्वार्थ हैं। आप्त, आगम और तत्त्वार्थ का श्रद्धान ही सम्यग्दर्शन है।

इन छह द्रव्यों में से जीव चैतन्यस्वरूप है। आत्मा के चैतन्यगुण के साथ वर्तनेवाले परिणाम को उपयोग कहते हैं। वह ज्ञान-दर्शन के भेद से दो प्रकार का हो जाता है अर्थात् ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग। अतीन्द्रिय सर्वथा आलंबनरहित मात्र आत्मापेक्षी केवलज्ञान ही आत्मा का स्वभाव है। मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय ज्ञान अपूर्ण हैं। दर्शनोपयोग के दो भेद हैं स्वभाव और विभाव। केवलदर्शन स्वभाव है। चक्षु, अचक्षु, अवधिदर्शन अपूर्ण दर्शनोपयोग है। स्व-पर अपेक्षित पर्याय तथा निरपेक्ष पर्याय, ये दो पर्याय के भेद हैं।

अठारह गाथावाले दूसरे अजीवाधिकार में पुद्गलद्रव्य परमाणु, स्कंधरूप से दो प्रकार का बतलाया है। पुद्गलद्रव्य आत्मा के स्वरूप से सर्वथा भिन्न है; भले ही वह पुद्गल परमाणु हो या स्कंधरूप हो। पुद्गल की दृष्टि से वर्तता हुआ आत्मा अशुद्ध विभावसहित-विकारयुक्त है। तत्पश्चात् धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन द्रव्यों के लक्षण तथा भेदों का कथन है।

तीसरे अठारह गाथावाले शुद्धभावाधिकार में मोक्षार्थी जीवों को निरंतर इस तरह की भावना भाने का उपदेश दिया है कि मान, अपमान, हर्ष, विषाद, बंध, उदय, जन्म, जरा, रोग, मृत्यु, शोक, भय, कुल, जाति, योनि, शरीर, समास, मार्गणा, दण्ड, द्वन्द्व, राग, द्वेष, शल्य, मूढ़ता, विषय, कषाय, काम, मोह, लोभ, वेद, संस्थान, संहनन आदि समस्त विकारों से यह आत्मा बिल्कुल भिन्न है। इस तरह विभावभावों से पृथक् शुद्ध आत्मा ही उपादेय है, शेष बाह्य तत्त्व हेय हैं। सिद्ध भगवान

की आत्मा जैसे अष्ट गुणयुक्त अविनाशी, निर्मल लोकाकाश के अग्रभाग में विराजती हैं, वैसी ही शुद्ध स्वरूपवाली मेरी आत्मा है तथा सर्व संसारी जीवों की आत्मा है। विपरीतमान्यतारहित तत्त्व का श्रद्धान ही सम्यग्दर्शन है, तथा संशय, मोह, विभ्रम से रहित हेय, उपादेय का ज्ञान ही सम्यग्ज्ञान है।

चौथे अठारह गाथावाले व्यवहारचारित्राधिकार में यह बताया है कि जीव और अजीव के भेदविज्ञान का अभ्यास करने से वीतराग मुनि ही सम्यक्चारित्र को प्राप्त हो सकते हैं।

पाँच में अठारह गाथावाले निश्चय प्रतिक्रमणाधिकार में बताया है कि चारित्र को दृढ़ करने के लिये निश्चय प्रतिक्रमण की क्यों आवश्यकता है? वाणी के लक्ष्य को और राग-द्वेष को छोड़कर आत्मा के शुद्धस्वरूप का चिंतवन करना, विराधना (स्वरूप से हटकर जो शुभाशुभ भाव होते हैं, वह विराधना है, उसे यहाँ पाप-क्रिया कहा है) को छोड़कर आराधना (आत्मस्वरूप में स्थिरता होना, सो आराधना है) में लीन होना, उन्मार्ग से हटकर शुद्धस्वरूप में सन्मुख रहना, माया, मिथ्यात्व, निदान शल्य भावों से निवृत्त होना; आर्तध्यान, रौद्रध्यान छोड़ धर्मध्यान, शुक्लध्यान में लीन होना। मिथ्यादर्शनादि को छोड़, सम्यग्दर्शनादि की भावना करना, यही प्रतिक्रमण है। इस तरह सर्व परभावों से दूर रहकर आत्मभाव में स्थिर रहना ही सच्चा प्रतिक्रमण है, यही मोक्षप्राप्ति का साधन है।

१२ गाथावाले छठे निश्चय प्रत्याख्यानाधिकार में-साधुजन आहार के पश्चात् हमेशा आनेवाले दिवसों के लिये अपनी शक्ति के अनुसार योग्यकाल तक आहार-त्याग का विकल्प करते हैं-उस रूप व्यवहार प्रत्याख्यान का कथन नहीं है किन्तु अपने स्वरूप की स्थिरता करने के प्रयोजन से समस्त परभावों के सर्वथा त्याग करने को सच्चा प्रत्याख्यान बताया है।

सातवें छह गाथा के निश्चयालोचनाधिकार में वीतरागभावस्वरूप परिणाम से आत्मस्वरूप का अवलोकन करना, यही आलोचना का लक्षण कहा है। ज्ञानावरणादि अष्ट द्रव्यकर्म, औदारिक, वैक्रियिक, आहारक ये तीन प्रकार के शरीर, नोकर्म, मति श्रुत अवधिज्ञान और मन:पर्यय ज्ञान और आत्मा की विभाव व्यंजनपर्याय देव, मनुष्य, नरक तिर्यंच पर्याय इन सबसे रहित मात्र आत्मा का ही ध्यान करना चाहिये, सो यथार्थ आलोचना है।

नौ गाथावाले निश्चय प्रायश्चित्ताधिकार में व्रत, समिति, शील और संयम में प्रवृत्त विभावरूप शुभभावों का क्षय करनेवाली भावना में प्रवृत्ति करना तथा आत्मस्वरूप का चिन्तवन

अथवा आत्मस्थिरता प्राप्त करना, सो सच्चा प्रायश्चित्त है, यह उपदेश दिया है। इस तरह शरीरादि परद्रव्यों के मोह को तथा तत्संबंधी संकल्प-विकल्पों को छोड़कर शुद्ध आत्मस्वरूप में लीन होना ही समस्त दोष और पापों का सच्चा प्रायश्चित है।

नौवें, बारह गाथावाले परम समाधि अधिकार में आचार्यदेव ने बताया है कि वीतराग-भावपूर्वक वाणी आदि के समस्त विकल्पों को छोड़कर आत्मा का चिन्तन करना संयम, नियम और तप द्वारा धर्मध्यान में एकाग्र होना, पुण्य-पाप का कारण जो राग-द्वेष है, उसे छोड़कर स्वरूप में स्थिरतारूप समभाव धारण करना तथा हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा तथा स्त्री, पुरुष एवं नपुंसकवेद इन नौ प्रकार की नोकषायों को छोड़ देना, सो परम समाधि है।

सात गाथावाले दसवें परम भक्ति अधिकार में आचार्यदेव ने यह प्रतिपादन किया है कि संसार परिभ्रमण से मुक्त कराने में कारणभूत रत्नत्रय की भक्ति ही सच्ची भक्ति है। सिद्ध के गुणों को भेद-प्रभेदसहित जानकर उन गुणों में आत्मा की अनुरक्ति होना ही परम भक्ति है। राग-द्वेषादिक भावों को छोड़कर अपने स्वरूप में परिणमन करना, यही उत्तम भक्ति है।

ग्यारहवें, बीस गाथावाले आवश्यकाधिकार में बताया है कि आवश्यक का अर्थ है ''अवशपना'' अर्थात् स्वाधीनता। परपदार्थ के लक्ष्य से होनेवाले शुभाशुभभावों से छूटकर अपने गुणों में स्थिर हो जाना, सो स्वाधीनता है। यह स्वाधीनता ही मोक्षमार्ग है। इस मार्ग का ग्रहण करना प्रत्येक आत्मा के लिये आवश्यक है। आत्मा योगीश्वर वीतरागस्वरूप है, इस का परभावों में न फंसना ही अर्थात् परभावों का नाश करना ही परम कर्तव्य है। आत्मा से अत्यन्त भिन्न परपदार्थों की तरफ लक्ष्यकर शुभाशुभभावों के आधीन होना, छह द्रव्यों के गुण-पर्यायों के संकल्प-विकल्प करना, पुण्य-पापरूपी परिणामों में प्रवर्तना ही पराधीनता है और इस पराधीनता का नाश कर आत्मा के स्वभाव का ध्यान करना, सो स्वाधीनता है। इस स्वाधीनतारूप आवश्यक के बिना चारित्र निष्फल है अथवा चारित्र होता ही नहीं।

बारहवें, अठाईस गाथावाले शुद्धोपयोगाधिकार में आचार्यदेव ने यह निरूपण किया है कि जैसे सूर्य का प्रकाश और गर्मी एक साथ ही प्रगट होते हैं, इसी प्रकार केवलज्ञान और केवलदर्शन दोनों साथ प्रगट होते हैं। इस तरह दर्शन और ज्ञान दोनों परस्पर स्व-पर प्रकाशक हैं। आत्मा स्वभाव से ही दर्शन-ज्ञानमय है। रूपी-अरूपी पदार्थों को गुण-पर्यायसहित युगपत् जाननेवाला ज्ञान, प्रत्यक्ष ज्ञान है। केवली के इच्छा का अभाव है, अतः उनको देखना, जानना, वाणी का

खिरना, स्थिर रहना अथवा चलना कर्मबंध का कारण नहीं है। केवली के आयुकर्म की पूर्णतमा होने पर शेष अघातिया कर्म भी स्वयं ही नाश हो जाते हैं और आत्मा लोकाग्र में स्थित हो जाता है। वहाँ सांसारिक सुख, दु:ख, पीड़ा, बाधा, निद्रा, जन्म, मरण, तृषा, क्षुधा, द्रव्यकर्म, नोकर्म, इन्द्रिय-विषय, उपसर्ग, मोह, आश्चर्य, चिंता, ध्यान वगैरह विकारों का अभाव है। वहाँ आत्मा अनंतदर्शन, अनंतज्ञान, अनंतवीर्य, अनंत आनंदमय, सच्चिदानंदस्वरूप, अविनाशी और निर्विकारी अवस्था में बिराजमान रहता है; ऐसी अवस्था को निर्वाण कहते हैं। उस दशा को प्राप्त होकर आत्मा कृतकृत्य और सिद्ध हो जाती है, अनंत चतुष्टययुक्त हो जाती है। इस परमपद को प्राप्त करना प्रत्येक आत्मा का कर्तव्य है। अर्थात् सबकी अपेक्षा परमपद की प्राप्ति ही मुख्य है। वयं लक्ष्यभूत पद की प्राप्ति की निरंतर भावना और ध्येय ऐसे सिद्ध स्वरूपी परमात्मा के गुण चिंतन में एकाग्र हो जाना, सो शुद्धोपयोग है। यह शुद्धोपयोग, निर्वाण प्राप्ति का प्रधान कारण है।

अष्टपाहुड़

इस ग्रंथ में दर्शनप्राभृत की ३६ गाथाओं द्वारा सम्यग्दर्शन का महत्त्व वर्णन किया है। सामान्य रीति से जिनेन्द्र भगवान द्वारा कथित सिद्धांतों की दृढ़ श्रद्धा करना, आत्मा के स्वाभाविक गुणों को यथार्थरूप से जान लेना ही सम्यग्दर्शन है। यही सम्यग्दर्शन धर्म का आधार, मुक्ति मार्ग का सुनिश्चित साधन है। उसके बिना ज्ञान, चारित्र या तप का कोई मूल्य नहीं। आत्मा की मलिनता इसी से नाश होती है, बिना इसके संसार का परिभ्रमण का अंत नहीं।

सम्यग्दर्शन के बिना पुण्य भी पुण्यरूप नहीं होता। जो कोई मनुष्य जीवन सफल करना चाहे तो उसे सच्ची भक्ति अर्थात् आत्मभक्ति द्वारा सच्ची श्रद्धा प्राप्त करना आवश्यक है।

जैनी कर्मवादी नहीं परंतु यथार्थ आत्मज्ञान के और विश्वस्वरूप के ज्ञाता हैं।

''जैन'' गुण वाचक नाम है, कोई संप्रदाय सूचक नहीं। जैन का अर्थ है राग-द्वेष को जीतनेवाला। जिन-जीवों में यह गुण प्रगट हो जाता है, वे ही संपूर्णरूप से सत् के ज्ञाता और प्ररूपक हो सकते हैं, उनका कहना संपूर्णरूप से सत्य ही होता है। वे जीव अपनी पूर्ण शुद्धता को प्राप्त कर लेते हैं, और वे ही आत्मस्वरूप के और विश्व के ज्ञाता हो सकते हैं।

जैनधर्म किसी व्यक्ति के कथन पर, किसी पुस्तक, चमत्कार या व्यक्ति विशेष पर निर्भर नहीं है; यह तो सत्य का अखंड भंडार तथा विश्व का धर्म है। अनुभव इसका आधार है। युक्तिवाद इस की आत्मा है। इस धर्म को काल की केद में नहीं बाँधा जा सकता। वह तो पदार्थों के स्वरूप का

प्रकाशक है, त्रिकालाबाधित सत्यरूप है। वस्तुऐं अनादि अनंत हैं; इसलिये उसके स्वरूप को प्रकाश करनेवाला तत्त्वज्ञान और उसके तत्त्वज्ञाता भी अनादि अनंत हैं।

भगवान कुंदकुंदाचार्य भी सत्य ज्ञानियों में से एक सत्य ज्ञानी हैं। जैन तत्त्वज्ञान अनादि अनंत वस्तुओं का यथार्थ प्रकाशक है। आचार्यदेव ने स्पष्ट घोषणापूर्वक प्रगट कर दिया है कि जो आत्मा को नहीं पहचानता, वह जैन नहीं है। जो जैन के साधु कहलाकर भी ये कहते हों कि ''कर्म आत्मा को अज्ञानी बना देता है'' और ऐसा कहकर जैनों को कर्मवादी सिद्ध करते हों तो वे जैन श्रमण नहीं श्रमणाभास हैं। वे अपनी बुद्धि के अपराध से सूत्र के सच्चे अर्थ को नहीं जाननेवाले हैं। श्री आचार्यदेव ने यही कथन समयसार की गाथा ३३० से ३४४ तक स्पष्ट किया है।

वे आगे प्रतिपादन करते हैं कि ''आत्मा, परपदार्थ के कार्यों को कर सकती है'' ऐसा माननेवाले चाहे जैन साधु ही क्यों न हों परंतु वे अज्ञानी ही हैं। क्योंकि उनके कथन और अज्ञानियों के विपरीत सिद्धांत में भेद ही क्या रहा ? मिथ्यात्वी जन, ईश्वर को सृष्टि का कर्ता मानते हैं और ये मुनि, आत्मा को परपदार्थों का कर्ता मान रहे हैं, तो फिर दोनों की मान्यता समान ही हुई। लोगों का और साधुओं का परद्रव्य में कर्तृत्व का व्यवसाय सिद्ध करता है कि यह व्यवसाय सम्यग्दर्शन रहित पुरुषों का है। (देखो समयसार गाथा ३२१ से ३२७)

वर्तमान में जो मात्र कुल परंपरा से जैन हैं, उनमें से बहु संख्यकभाग यह मानता है कि ''जड़कर्म आत्मा को दुःखी करता है'' और कहता है कि ''जैनधर्म कर्मवादी है।'' परंतु उनकी यह एक महान् भूल है। जैनी कर्मवादी नहीं अपितु वस्तु स्वरूपवादी है।

गुजरात काठियावाड़ में भगवान कुंदकुंदाचार्य के शास्त्रों का प्रचार

गुजरात-काठियावाड़ में बहुत समय तक लोग इन शास्त्रों को नहीं जानते थे। गत शताब्दी में श्रीमद् राजचंद्रजी को वे शास्त्र प्राप्त हुये और उन पर उन शास्त्रों की अद्भूतता का भारी असर हुआ। इस संबंध में उनने लिखा है कि—

''हे कुंदकुंदादि आचार्यों! आपके वचन भी स्वरूपानुसंधान के लिये इस पामर को परम उपकारभूत हुये हैं, इसलिये मैं आपको अतिशय भक्तिपूर्वक नमस्कार करता हूँ।''

उनने 'परम श्रुत प्रभावक मंडल' की स्थापना करके उसके द्वारा इन शास्त्रों को प्रसिद्ध करने की योजना की थी, जिसके परिणामस्वरूप भगवान कुंदकुंदाचार्य के अनेक ग्रंथ वहाँ से प्रगट हो चुके हैं और मुमुक्षु लोग उनका लाभ ले रहे हैं। सर्वोत्कृष्ट आगम श्री समयसार का गुरु संप्रदाय

का (गुरु परंपरागत उपदेश का) विच्छेद हो गया है, यह देखकर संवत् १८०७ में पं. जयचंदजी ने सब लोगों के पठन-पाठन की दृष्टि से उसकी देशभाषा में वचनिका लिखी थी। वह हिन्दी अनुवाद परम श्रुत प्रभावक मंडल (बंबई) ने सं. १९७५ में प्रसिद्ध किया था।

संवत् १९९१ से वीतराग देव के अनन्य भक्त पूज्य श्री कानजीस्वामी काठियावाड़ में श्री समयसारजी का अपूर्व उपदेश समाज को देकर महा प्रभावना कर रहे हैं। उनने सात बार समयसारजी पर सभाओं में प्रवचन किया है और आठवीं बार सोनगढ़ में उस पर प्रवचन दे रहे हैं। इस प्रकार उनने अनेक जीवों को पावन किया है।

इस प्रकार भगवान कुंदकुंदाचार्य के नाम से और उनके परमागमों से काठियावाड़ के मुमुक्षुजन बहुत बड़ी संख्या में परिचित हो गये हैं, और होते जा रहे हैं।

सोनगढ़ में भगवान श्री सीमंधरस्वामी के समोशरण की रचना की गई है। उसमें भगवान श्री कुंदकुंदाचार्य की भी स्थापना की गई है, उससे मुमुक्षुजनों को यह प्रतिभासित हो जाता है कि भगवान का समवशरण कैसा होता है और जब विदेहक्षेत्र में श्री कुंदकुंदाचार्य भगवान के समोशरण में पधारे थे, उस समय का कैसा दृश्य होगा ?

इस प्रकार भगवान कुंदकुंदाचार्य के नंदन परम पूज्य श्री कानजीस्वामी के द्वारा भगवान महावीरस्वामी के शासन का जय जयकार हो रहा है।

अहो! उपकार जिनवरनो, कुंदनो ध्वनि दिव्यनो;
जिन-कुंद ध्वनि आप्यां अहो! ते गुरु कहाननो!

भगवान श्री महावीर स्वामी की जय हो!

भगवान श्री कुंदकुंदाचार्य की जय हो!

ग्रंथाधिराज री समयसार की जय हो!

सनातन जैनधर्म की जय हो, जय हो!

ॐ शांतिः ॐ शांतिः ॐ शांतिः

हम चाहते हैं कि 'आत्मधर्म' का वांचन-मनन प्रत्येक धर्म प्रेमी भाई-बहन के घर में, शास्त्रसभा में एवं मंदिरजी में होओ। उस कार्य में आपसे सहयोग की आशा की जाती है। क्या आप हमारी इस चाह को लक्ष में लेंगे ? —रवाणी

आचार्यदेव का आमंत्रण

पूज्य श्री कानजीस्वामी का प्रवचन

समयसार का पूर्वरंग ३८ गाथाओं में पूरा होता है। आचार्यदेव ने ३८ गाथाओं में मोक्ष का मार्ग खोल दिया है और अब सब को आमंत्रण देते हैं। आचार्यदेव कहते हैं कि ऐसा शांतस्वरूप समझाया है तो उसे समझकर उसमें लोक निमग्न हो जाओ, इस प्रकार आमंत्रण दिया है। इस संबंध में एक कलश इस प्रकार कहा है कि—

(मालिनी)

मज्जंतु निर्भरममी सममेव लोका
आलोक मुच्छलति शांतरसे समस्ताः।
आप्लाव्य विभ्रम तिरस्करिणीं भरेण
प्रोन्मग्न एष भगवानवबोधसिंधुः॥ (समयसार कलश ३२)

अर्थ—यह ज्ञानसमुद्र भगवान आत्मा विभ्रमरूप आड़ी चादर को संपूर्ण डुबाकर (दूर करके) स्वयं सर्वांग प्रगट हुआ है, इसलिये अब समस्त लोक उसके शांतरस में एक ही साथ अत्यंत मग्न हो जाओ। वह शांतरस कैसा है ? समस्त लोकपर्यंत उछल रहा है।

यहाँ आचार्यदेव आमंत्रण दे रहे हैं। किसे आमंत्रण दे रहे हैं ? समस्त जगत को एक साथ आमंत्रण दे रहे हैं। भगवान के घर लग्न हो तो किसे आमंत्रण नहीं होगा ? सबको होगा।

इस देहरूपी चोले में प्रभु चैतन्य सो रहा है। शरीर और राग को अपना मानकर सो रहा है। लौकिक माता अधिकाधिक सुलाने के लिये लोरी गाती है किन्तु प्रवचनमाता जगाने की लोरी गाती है। शरीरादि के रजकणों में गुप्त हुआ, पुण्य-पाप के भाव में छिपा हुआ भगवान आत्मा है, उसको प्रवचनमाता अपनी लोरियां गाकर जगाती हैं।

जैसे बांसुरी के स्वर से प्रभावित होकर सर्प, विष को भूल जाता है और बांसुरी के स्वर में एकाग्र हो जाता है; उसी प्रकार आचार्यदेव कहते हैं कि हमारी इस समयसार की वाणीरूप बांसुरी के स्वर में कौन आत्मा नहीं डोलेगा ? कौन जागृत नहीं होगा ? सभी डोलेंगे, सभी जागृत होंगे। जिसके चित्त में यह नहीं बैठे, वह अपने घर रहा। आचार्यदेव ने तो अपने भाव से समस्त जगत् को आमंत्रण दिया है।

''ज्ञानसमुद्र भगवान आत्मा'' कहा गया है। अर्थात् सभी आत्माओं को भगवान कहा है। ज्ञानसमुद्र भगवान, समुद्र की तरह अपने ज्ञान में हिलोरें खाते हैं, ज्ञानसमुद्र आत्मा चाहे जितनों वर्षों से बात को जाने तो भी वजन नहीं होता। इस प्रकार के ज्ञानसमुद्र से भरपूर आत्मा है। जैसे समुद्र पानी से छलाछल भरा हो और उसके आड़े कोई दीवाल अथवा कोई अन्यवस्तु आ जाय तो पानी दिखाई नहीं देता किन्तु यहाँ पर तो मात्र चादर अर्थात् एक सामान्य ओढ़नी ही आड़े आई बताई गई है, जिसे दूर करने में देर नहीं लगनी चाहिये। मात्र उस चादर को पानी में डुबा देने से ही छलाछल पानी से भरा हुआ समुद्र दिखाई देने लगता है; उसी प्रकार ज्ञानसमुद्र भगवान आत्मा भीतर छलाछल पानी से भरा है। विभ्रमरूप आड़ी चादर को हटाकर अर्थात् विपरीतमान्यता की जो आड़ी चादर पड़ी थी, (भ्रांतिरूप मात्र एक चादर की आड़ी है—एक क्षणिक पर्याय की कीमत ही क्या है ?) उसे संपूर्ण पानी में डुबा दिया अर्थात् भ्रम की खोटी पकड़ को नश्ट कर दिया और सर्वांग प्रगट होनेरूप उत्पाद हुआ। सर्वांग अर्थात् असंख्य प्रदेश में प्रगट हुआ और ज्ञानसमुद्र भगवान अपने ज्ञान आदि शांतरस में तरंगित होता है।

जैसे लोगों में यह कहा जाता है कि यह स्वच्छ सुंदर पानी भरा हुआ है, उसमें स्नान करो; उसी प्रकार आचार्यदेव कहते हैं कि इस सुंदर मधुर स्वच्छ ज्ञानसमुद्र में सब जीव आकर स्नान करो, शीतल होवो, शांत रस में निमग्न होओ। सभी जीवों को आमंत्रण देते हुये सब को एक साथ आने के लिये कहा है। एक के बाद एक को आने के लिये नहीं कहा है। आहाहा! ऐसा भगवान आत्मा है। भगवान आत्मा का ऐसा अद्‌भुत स्वभाव देखकर आचार्यदेव का भाव एकदम तरंगित हो उठा कि अहो! ऐसा आत्मा है, तब सभी जीव एक साथ क्यों नहीं आते ? सब आओ, एक साथ आओ, शांतरस में एक ही साथ अत्यंत निमग्न होओ, अत्यन्त निमग्न होओ, कोई कसर मत रखना। इस प्रकार आचार्यदेव की अति भावना उछल उठी है। (अंतर में अपने को पूर्ण हो जाने की भावना का बल विद्यमान है।)

यहाँ पर 'निमग्न' नहीं कहा है किन्तु अत्यन्त निमग्न होने को कहा है। और फिर कहते हैं कि कैसा है शांतरस ? समस्त लोक में तरंगित हो रहा है। चौदह ब्रह्मांड के जीवों में शांतरस उछल रहा है, सभी प्रभु हैं। अहो! उसमें सब लीन होओ। इस प्रकार आचार्यदेव आमंत्रण देते हैं अथवा दूसरा अर्थ यह है कि केवलज्ञान के होने पर समस्त लोकालोक पर्यंत शांतरस तरंगित हो रहा है।

अब भावार्थ का विस्तार किया जाता है। मात्र भ्रांति की आड़ी चादर थी, इसलिये स्वभाव

दिखाई नहीं देता था। दीवाल जैसी कोई कठिन वस्तु आड़ी हो तो उसे तोड़ने में देर लगे किंतु वह तो चादर जैसी भ्रांति क्षण में दूर की जा सकती है। विभ्रम से उसका स्वरूप दिखाई नहीं देता था। स्त्री-कुटुम्ब की तो बात ही क्या, किन्तु शरीर-मन और वाणी का भी कहाँ ठिकाना है; वे सब भिन्न ही हैं, इतना ही नहीं किन्तु भीतर होनेवाले शुभाशुभभाव भी भिन्न ही हैं। उन सबमें एकत्वबुद्धि थी, उसे दूर करके और समूची डुबाकर उस ज्ञान समुद्र में—वीतरागी विज्ञान में सब एक साथ निमग्न हो जाओ। इस प्रकार आचार्य ने डिमडिम नाद किया है। सबको एक साथ आमंत्रित किया है। आमूल आमंत्रण में कौन नहीं पहुँचता? सभी पहुँचते हैं। जिसे विरोध हो, द्वेष हो, वह नहीं पहुँचता। जो बीमार होता है, वह कहता है कि मैं नहीं पहुँच सकता तो क्या किया जाय? उसके लिये कहते हैं कि हे रोगी ! तू अपनी इस शक्तिहीन बात को छोड़ दे एक ओर! इस सामूहिक निमंत्रण में एक बार चलकर तो देख। मिष्ठान्न न सही, दालभात ही खा लेना किन्तु चल तो सही।

कई श्रावक, साधर्मियों को जिमाते हैं, उस समय कुछ लोगों के ऐसे भाव होते हैं कि कोई भी साधर्मीजीव रह न जाना चाहिये। क्योंकि इतने सारे लोगों में से कोई जीव ऐसा सर्वोत्तम हो सकता है, कि वह भावी तीर्थंकर हो सकता है। कोई केवली होनेवाला हो, कोई अल्पकाल में ही मुक्त होनेवाला हो, ऐसा साधर्मी के पेट में मेरा एक भी ग्रास जाय तो मेरा अवतार धन्य हो जाय! भविष्य में कौन तीर्थंकर होनेवाला है, कौन अल्पकाल में मोक्ष जानेवाला है—इसकी भले ही खबर न हो किन्तु जिमानेवाले का भाव ऐसा है कि अल्पकाल में मोक्ष जानेवाला कोई जीव रह नहीं जाना चाहिये। जिमानेवाले का भाव आत्मभावनापूर्वक यदि यथार्थ हो तो उसका अर्थ यह है कि स्वयं अल्पकाल में मुक्ति प्राप्त करने के भाव हैं-ऐसी रुचि है। इसी प्रकार आचार्यदेव कहते हैं कि मेरा सामूहिक निमंत्रण है। सामूहिक निमंत्रण इसलिये है कि इस शांतरस के स्वाद से कोई जीव वंचित न रह जाय। ऐसा आमंत्रण देते हुये वास्तव में आचार्यदेव को स्वयं ही भगवान आत्मा के शांतरस में निमग्न हो जाने की तीव्र भावना उत्पन्न हुई है। समयसार की एक-एक गाथा में आचार्यदेव ने अद्‌भुत रचना की है, अलौकिक अपूर्व भाव भर दिये हैं, हम क्या कहें? जो समझता है उसी को मालूम होता है।

जब केवलज्ञान प्रगट होता है, तब समस्त ज्ञेय एक ही साथ आकर ज्ञान में झलकने लगते हैं, उसे सर्व लोक देखे, ऐसी प्रेरणा भी यहाँ की गई है। पूर्णस्वभाव की बात आचार्यदेव ने पूर्णरूप से ही कही है। एक परमाणुमात्र भी मेरा नहीं है, यह कहकर पूरी बात कह दी है। 'एक परमाणुमात्र का भी स्पर्श नहीं है' इस प्रकार की प्रतीति के बल से पूर्णता हो जाती है।

जैसे किसी आदमी को किसी राजा इत्यादि से मिलने को जाना हो तो वह श्रीफल इत्यादि भेंट की वस्तु लेकर जाता है। उसी प्रकार त्रिलोकीनाथ भगवान आत्मा से भेंट करने जाना हो तो उसके लिये भी भेंट प्राप्त करनी होगी, उसके बिना भगवान आत्मा प्रगट नहीं होगा। उस समय-प्राभृत अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञानचारित्र की परिणतिरूप भेंट के बिना आत्मारूपी राजा किसी भी प्रकार प्रसन्न नहीं होगा।

यह तत्त्व क्या है, इसका एक बार कुतूहल तो कर। यह सब प्रतिष्ठा को, कीर्ति को, द्रव्य को, कुटुंब को अपना मान रखा है, उसे भूलकर भीतर आत्मा में कूदकर उसकी थाह तो देख। जैसे डुबकिया कुए में कूदकर उसकी थाह को प्राप्त कर लेता है; उसीप्रकार थाह को प्राप्त कर। दुनिया को भूलकर या मरकर भी अंतर्तत्त्व क्या है, यह भीतर देखने के लिये एक बार गिर तो देख। 'मरकर' अर्थात् चाहे जितनी प्रतिकूलता उठाकर भी कुतूहल कर। अनंत बार देह के लिये आत्मा को बर्वाद किया है किन्तु अब एक बार आत्मा के लिये देह को गला सके तो भव न रहे। संसार को भूल, दुनिया की चिंता को छोड़कर आत्मा के रस में मस्त हो जा और पुरुषार्थ करके अंतर्पट को फाड़ दे।

भगवान आचार्यदेव करुणा करके कहते हैं कि तू अनादि-अनंत है, अविनाशी है, तेरा गुण कभी नष्ट नहीं हो सकता, तेरा अंतरंग अनंत गुणों से भरा हुआ है, तू निर्दोष वीतरागस्वरूप है, एक क्षण में केवलज्ञान और परमात्मदशा को प्रगट कर सकता है, उसे भूलकर अरे! इस पर में कहाँ रुका हुआ है। तेरा स्वरूप ऐसा सदोष नहीं है, उसमें दीन हीन होकर क्यों अटक रहा है ? अपने स्वरूप की प्रतीति कर।

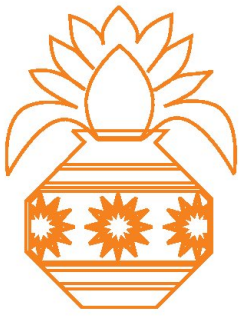

समयसारावलोकन

—श्री रामजीभाई माणेकचंद दोशी

१– भगवान श्री कुंदकुंदाचार्यदेव ने विक्रम संवत् की प्रथम शताब्दी में श्री समयसार शास्त्र की प्राकृत भाषा में रचना की थी। उसके कुल ९ अधिकार हैं, जिनके नाम (गाथाओं की संख्या के साथ) इस प्रकार हैं:—

	अधिकार नाम	गाथा
१–	जीवाजीव अधिकार	गाथा १ से ६८
२–	कर्ताकर्म अधिकार	गाथा ६९ से १४४
३–	पुण्य–पाप अधिकार	गाथा १४५ से १६३
४–	आस्रव अधिकार	गाथा १६४ से १८०
५–	संवर अधिकार	गाथा १८१ से १९२
६–	निर्जरा अधिकार	गाथा १९३ से २३६
७–	बंध अधिकार	गाथा २३७ से २८७
८–	मोक्ष अधिकार	गाथा २८८ से ३०७
९–	सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार	गाथा ३०८ से ४१५

जीव क्या कर सकता है और क्या नहीं ?

२– ऊपर गाथाओं की जो संख्या बताई है, उससे मालूम होगा कि कर्ताकर्म अधिकार और सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार की गाथाऐं सबसे अधिक हैं। कर्ताकर्म अधिकार में ७६ और सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार में १०८ गाथाऐं हैं। सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार में ३०८ से ३८२ तक की गाथाओं में भी कर्ताकर्म का विषय लिया गया है। इस प्रकार इस शास्त्र में ७६ गाथाऐं दूसरे अधिकार में और ७४ गाथाऐं अंतिम अधिकार में (कुल १५० गाथाऐं) कर्ताकर्म के विषय में दी गई हैं।

३– कर्ताकर्म के विषय पर जो १५० गाथाऐं दी गई हैं, उनका मुख्य कारण यह है कि—जीव अनादि से अज्ञानी है, इसीलिये वह यह मानता आ रहा है कि मैं पर का कुछ कर सकता

हूँ, और पर को भोग सकता हूँ। शरीर, जीव से पर है और वह अनंत अचेतन, रूपी रजकणों का पिंड है, तथा उस शरीर में रहनेवाला जीव, शरीर से बिल्कुल भिन्न प्रकार का है अर्थात् चेतनस्वरूप स्वयं सिद्ध अनादि-अनंत एक वस्तु है, फिर भी जीव, शरीर को अपना मानता है; इसलिये शरीर को मैं हिला-डुला सकता हूँ तथा अन्य परद्रव्यों के कार्य भी जीव कर सकता है, यह मानता आ रहा है। जो कार्य जीव से नहीं हो सकता हो, वह मुझसे हो सकता है, यह मानना बहुत बड़ी भूल है। इस महा भूल को दूर करने के लिये (अनादिकाल से आगत अपने और पर वस्तु के घोर अज्ञान को दूर करने के लिये) आचार्यदेव ने इन गाथाओं की रचना की है।

४- वर्तमान गोचर जितने देश हैं, उनमें जितने तत्त्वज्ञान संबंधी शास्त्रों का अस्तित्व है, उनमें कर्ताकर्म का विषय इतनी स्पष्टता और असरकारक रीति से नहीं समझाया गया है। समयसार शास्त्र की अनेक विशेषताओं में से यह एक अति महत्वपूर्ण विशेषता है।

५- उपरोक्त कथनानुसार मुख्यतया यह शास्त्र अत्यंत अज्ञानियों के अनादिकाल से चले आये घोर अज्ञान को दूर करने के लिये आचार्यदेव ने करुणा करके बनाया है। आचार्य भगवान ने स्वयं अनेक स्थलों पर यह बताया है कि यह शास्त्र अत्यंत अज्ञानियों के अज्ञान को दूर करने के लिये है, इसलिये प्रत्येक अधिकार को लेकर उसमें आचार्य भगवान क्या कहते हैं, यह कहा जाता है।

जीवाजीव अधिकार

[गाथा १ से ४]

६- इस अधिकार में ६८ गाथाऐं हैं। पहली गाथा में मंगलाचरण करके तत्काल ही दूसरी गाथा के उत्तरार्ध में 'परसमय' अर्थात् अज्ञानी कौन है ? यह बताया है। तीसरी गाथा में अज्ञानदशा विसंवादिनी है-अर्थात् जीव को दुःख देनेवाली है, यह कहकर चौथी गाथा में कहा है कि जीव की अज्ञानदशा अनादि से चली आ रही है, उसमें मैं पर का कुछ कर सकता हूँ—पर को भोग सकता हूँ—ऐसी (काम-भोग-बंध की) कथायें अपना अत्यंत बुरा करनेवाली होने पर भी, लोक के सर्व जीवों ने अनंत बार सुनी हैं, अनंत बार उनका परिचय किया है और अनंत बार उनका अनुभव किया है। स्वयं आचार्यत्व करके अन्य जीवों को वे कथायें सुनाई किन्तु भिन्न आत्मा के एकत्व को कभी नहीं सुना, उसका परिचय नहीं किया और उसका अनुभव भी स्वयं कभी नहीं किया। अपनी अनात्मज्ञता अनादिकाल से चली आ रही है। आत्मा को जाननेवालों की संगति स्वयं नहीं की है,

इसलिये आत्मा का स्व से एकत्व और पर से पृथक्त्व कभी नहीं सुना, और न उसके परिचय में ही आया है। इसीलिये कभी अपने अनुभव में भी नहीं आया।

[गाथा ५]

७- लोक के समस्त अज्ञानी जीवों को गाथा ५ में आचार्यदेव कहते हैं कि—आत्मा का स्व से एकत्व और पर से पृथक्त्व तुमने अनादि काल से नहीं सुना है, इसलिये मैं तुम्हें वह इस शास्त्र में अपने आत्मा के निज ज्ञान वैभव के द्वारा दिखाता हूँ। इसलिये इस शास्त्र में जो परम सत्य कहा जायगा, वह तुम्हें अपने अनुभव-प्रत्यक्ष से परीक्षा करके प्रमाण करना चाहिये। प्रथम पाँच गाथाओं से निम्न लिखित बातें सिद्ध होती हैं:—

(१) जगत के अधिकांश जीव, जीव के यथार्थ स्वरूप के ज्ञान से रहित हैं, इसलिये वे आत्मा से अज्ञात हैं (जीव और आत्मा एकार्थ वाचक है।)

(२) उनने कभी आत्मा के स्वरूप की सच्ची कथा नहीं सुनी।

(३) उनने आत्मा के सच्चे स्वरूप का परिचय और अनुभव नहीं किया।

(४) आत्मा के स्वरूप के सच्चे ज्ञान की संगति पहले कभी नहीं की।

(५) इसलिये आचार्य भगवान स्वयं उस स्वरूप को कहते हैं।

(६) उस कथन की अनुभव-प्रत्यक्ष के द्वारा परीक्षा करना चाहिये क्योंकि सत्यासत्य की परीक्षा किये बिना किसी का अज्ञान दूर नहीं हो सकता।

(७) यह शास्त्र अनादिकाल से चले आये हुये अज्ञानी जीवों के अज्ञान को दूर करने के लिये उपदेशदाता है। जीव आत्मा के स्वरूप के सच्चे कथन को स्वयं विचार कर इस काल में अज्ञान को दूर कर सकते हैं और अपने सम्यग्ज्ञान को प्रगट करके आत्मानुभव कर सकते हैं।

[गाथा ६ से १०]

८- आगे चलकर गाथा ६ में शुद्ध आत्मा का स्वरूप बताकर ७ वीं गाथा में बताया है कि—आत्मा अनन्त गुणों का अखण्ड पिण्ड है, फिर भी उसमें भेद करके 'उसके दर्शन है-ज्ञान है-चारित्र है' यह कहकर-भेद करने पर छद्मस्थ जीव के विकार हुये बिना नहीं रहता। ८ वीं गाथा में कहा है कि—गुणों के भेद करके समझाये बिना अज्ञानी जीव आत्मस्वरूप को नहीं समझ सकते, इसलिये भेद करके समझाना पड़ता है।

अनार्य का दृष्टान्त देकर इसी बात को अधिक स्पष्ट किया है कि जैसे अनार्य को उसकी

भाषा के बिना समझाना अशक्य है; उसी प्रकार अज्ञानी जीवों को (यद्यपि धर्म और धर्मी स्वभाव से अभेद हैं तथापि) भेद के द्वारा ही समझाया जा सकता है। इसलिये उन्हें तत्काल समझ में आ सकने के लिये धर्मों-गुणों के नामरूप भेद उत्पन्न करके उन्हें समझाया जाता है। जैसे ब्राह्मण को म्लेच्छ हो जाना ठीक नहीं है; उसी प्रकार उस भेदरूप कथन का अनुसरण करना ठीक नहीं है, किन्तु उस कथन के द्वारा आत्मा का अभेद परमार्थस्वरूप समझ लेना चाहिये।

९- इस प्रकार आठवीं गाथा भी सिद्ध करती है कि मुख्यतया अनादि के अज्ञानी जीवों को उद्देश करके यह शास्त्र बनाया है। गाथा ९, १० में बताया है कि 'व्यवहारनय परमार्थ का ही प्रतिपादन करता है।'

[गाथा ११-१२]

१०- जब तक भेद पर दृष्टि रहती है, तब तक जीव अज्ञानी रहता है। (ऐसे जीवों को शास्त्र की परिभाषा में व्यवहार से विमोहित-पर्यायबुद्धि कहा है) उस दृष्टि को छोड़कर जीव, आत्मा के त्रैकालिक एक अखण्ड शुद्ध ज्ञायक ध्रुवस्वरूप की ओर दृष्टि करे-उस का आश्रय ले, तभी उसका अज्ञान दूर होकर सम्यग्दर्शन होता है; यह बात गाथा ११ में कही गई है।

इस प्रकार दृष्टि बदलने के लिये त्रैकालिक जीव का स्वरूप (निश्चयनय) और वर्तमान काल की विकारी अवस्था (व्यवहारनय) जाननेयोग्य है, यह १२ वीं गाथा में कहा है। संक्षेप में कहा है कि दोनों पहलुओं का (नयों का) ज्ञान करना चाहिये, किन्तु उनमें आदरणीय त्रिकाली पहलू (निश्चयनय) है; यह समझना चाहिये।

११- इन दो गाथाओं में जीव के त्रिकाली पहलू (निश्चयनय) और वर्तमान अवस्था (व्यवहारनय) के ज्ञान करने का उपदेश देकर, अज्ञानी का अनादि कालीन अज्ञान दूर करने के लिये कहा है कि निश्चयनय का आश्रय लेने पर ही जीव, सम्यग्दृष्टि हो सकता है।

[गाथा १३ से १६]

१२- अनादि के अज्ञानी के कभी भी सम्यग्दर्शन प्रगट नहीं हुआ। जो जीव सम्यग्दर्शन के प्रगट होने के लिये पुरुषार्थ नहीं करता, उस जीव के धर्म का लघुतम अंश भी नहीं हो सकता। इसलिये अज्ञान को दूर करने के लिये गाथा १३-१४ में सम्यग्दर्शन का स्वरूप सविवरण समझाया है। जब सम्यग्दर्शन प्रगट होता है, तब सम्यग्ज्ञान भी होता ही है, इसलिये १५ वीं गाथा में सम्यग्ज्ञान का स्वरूप कहा गया है।

१३- गाथा १५ में स्पष्ट बताया है कि—सम्यग्ज्ञान ही सच्चा जिनशासन है, ऐसा अनन्त ज्ञानियों ने कहा है। अर्थात्-जो जीव सम्यग्दृष्टि नहीं है, वह जिनशासन का सच्चा अनुयायी नहीं है। बहुतेरे लोग पुण्यभाव को जिनशासन मानते हैं, इसलिये अज्ञानियों के इस अज्ञान को दूर करने के लिये आचार्यदेव ने इस गाथा में डंके की चोट कहा है कि भावश्रुतज्ञान ही (आत्मा के शुद्ध स्वरूप का यथार्थज्ञान ही) सच्चा जिनशासन है।

१४- जिसे सम्यग्दर्शन प्रगट हो जाता है, उसे आंशिक सम्यक्चारित्र होता है। उस चारित्र को स्वरूपाचरणचारित्र कहा गया है। वे जीव क्रमशः सम्यक्चारित्र में आगे बढ़ते जाते हैं, इसलिये सम्यक्चारित्र का स्वरूप १६ वीं गाथा में कहा है।

[गाथा १७-१८]

१५- गाथा १७ में कहा है कि जैसे धन का इच्छुक जीव, राजा को उसके लक्षणों से जानकर राजा की श्रद्धा करता है और उसका अनुसरण करता है, उसी प्रकार जो जीव सच्चे सुख का इच्छुक हो, उसे सर्व प्रथम जीव को उसके लक्षणों से जानकर उसका यथार्थ प्रतीतिरूप श्रद्धान करना चाहिये और फिर अपने में स्थिर होनेरूप आचरण प्रगट करना चाहिये।

१६- आचार्यदेव ने यहाँ पर अनादिकालीन अज्ञानी को निम्न लिखित बातें समझाई हैं—

(१) बिना जाने श्रद्धा करना गधे के सींग के समान खोटी है, इसलिये अश्रद्धा है। भला, जाने बिना श्रद्धान किसका? इसलिये आत्मा के स्वरूप को जाने बिना किसी भी जीव के धर्म का अंश भी कदापि नहीं हो सकता।

(२) आत्मा को स्वयं जाने बिना श्रद्धान नहीं हो सकता, तब फिर स्वयं स्थिरता किसमें करेगा? इसलिये निश्चय यह समझना चाहिये कि साध्य आत्मा की प्राप्ति, सिद्धि अन्य प्रकार से कदापि नहीं हो सकती, वह सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र से ही होती है।

१७- जब तक जीव आत्मस्वरूप को नहीं जान लेता, तब तक वह अज्ञानी ही है, क्योंकि उसके सदा अप्रतिबुद्धत्व विद्यमान है। वह एक क्षण भर के लिये भी यथार्थ ज्ञान को नहीं पाता, इसलिये जीव को सर्व प्रथम अज्ञान दूर करने की आवश्यकता है। यही इन गाथाओं में कहा गया है।

[गाथा १९]

१८- शिष्य एक शंका उपस्थित करता है कि—अनादिकाल से अज्ञानी जीव की

अज्ञानदशा-अप्रतिबुद्धता कब तक बनी रहती है ? उसका समाधान करते हुये आचार्यदेव कहते हैं कि—

जब तक इस आत्मा के ऐसी बुद्धि बनी रहती है कि—'भावकर्म, द्रव्यकर्म और शरीरादि नोकर्म मैं हूँ' और 'मुझमें यह भावकर्म-द्रव्यकर्म-नोकर्म विद्यमान हैं' तब तक यह आत्मा अज्ञानी बना रहता है।

१९- अनादिकाल से जीव के जो अज्ञान चला आ रहा है, उसमें जीव क्या भूल कर रहा है ?—यह इस १९ वीं गाथा में बताया गया है। यदि जीव अपनी भूल को समझ ले तो वह उसे टाल दे; इसलिये उस भूल को दूर करने के लिये यहाँ बताया है कि—

(१) जीव परवस्तु को इष्ट-अनिष्ट मानता है; जीव की यह भावकर्मरूप मूल भूल है।

(२) सूक्ष्म रजकणरूप द्रव्यकर्म, आत्मा में विद्यमान हैं, और शरीरादि का जो संयोग है, वह निज में है—इस प्रकार जीव मानता है। जीव की यह अनादिकाल से चली आनेवाली द्रव्यकर्म और शरीरादि संबंधी भूल है।

[गाथा २० से २२]

२०- इन तीन गाथाओं में जीव को अपना अज्ञान दूर करने और ज्ञान प्राप्त करने के लिये ऐसे चिह्न दिये गये हैं जिनसे अज्ञानी और ज्ञानी दोनों के लक्षण जाने जा सकें।

अज्ञानी को पहचानने के चिह्न

२१- अज्ञानी को पहचानने के निम्न लिखित चिह्न बताये गये हैं [गाथा २०-२१]

अपने से भिन्न जो परद्रव्य-सचित्त स्त्री पुत्रादि और अचित धनधान्यादि अथवा मिश्र ग्राम-नगरादि हैं, उन्हें जो जीव यह समझता है कि —१- मैं यह हूँ, २- यह द्रव्य ममस्वरूप हैं, ३-मैं इसका हूँ, ४-यह मेरा है, ५-यह पहले मेरा था, ६- मैं पहले इसका था, ७-यह भविष्य में मेरा होगा, ८-मैं भविष्य में इसका होऊंगा, सो वह अज्ञानी है।

२२-गाथा २२ के पूर्वार्ध में कहा है कि—जो जीव आत्मीयता के ऐसे झूठे विकल्प करता है, वह मूढ़-मोही अज्ञानी है।

ज्ञानी को पहचानने के चिह्न

२३- गाथा २२ के उत्तरार्ध में ज्ञानी जीव का चिह्न बताते हुये कहा है कि -जो जीव परमार्थ (भूतार्थ) वस्तु स्वरूप को जानता हुआ ऐसा झूठा विकल्प नहीं करता, वह मूढ़ नहीं है-प्रत्युत ज्ञानी है।

२४- यह गाथा सिद्ध करती है कि-स्वयं ज्ञानी हुआ है या नहीं, यह जीव स्वयं उपरोक्त चिह्न से निश्चय कर सकता है। इस प्रकार चिह्न से पहचानना, सो भावश्रुतज्ञान है।

कोई कहते हैं कि—'जब जीव को अवधिज्ञान हो जाता है, तभी वह यह अचूक जान पाता है कि वह स्वयं ज्ञानी हुआ है। उस ज्ञान से अथवा उससे उच्च प्रकार के ज्ञान-मनःपर्यय और केवलज्ञान से जो निर्णय हो, वह अचूक होता है। किन्तु श्रुतज्ञान में भूल रहित-अचूक निर्णय न भी हो यह संभव है।' यह धारणा बिलकुल मिथ्या है। भावश्रुतज्ञान प्रमाणज्ञान है और प्रमाणज्ञान सदा सत्य होता है; अर्थात् वह संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय रहित होता है। इसलिये जीव निःशंक होकर यह सत्य निर्णय कर सकता है कि वह स्वयं श्रुतज्ञान से ज्ञानी हुआ है।

२५- जिन जीवों को केवलज्ञान होता है, उनमें अवधिज्ञान रहित जीवों की संख्या बहुत बड़ी होती है, और अवधिज्ञानवाले जीवों की संख्या कम होती है। यदि अवधिज्ञान के बिना यह नहीं जाना जा सकता होता कि वह स्वयं ज्ञानी हुआ है तो इस का यह अर्थ होगा कि वह जीव यह वास्तविक निर्णय नहीं कर सके थे कि वे स्वयं सम्यग्दृष्टि हुये हैं और यह अर्थ बिलकुल मिथ्या है-भूल से भरा हुआ है।

२६- वास्तविक स्वरूप ऐसा है कि जो जीव भावश्रुत द्वारा भूलरहित यह यथार्थ निर्णय नहीं कर सकता कि वह स्वयं सम्यग्दृष्टि है या नहीं, उसे कदापि अवधिज्ञान हो ही नहीं सकता। हाँ, विभंगावधिज्ञान होता है, किन्तु वह तो मिथ्यादृष्टि के होता है।

२७- इस गाथा में यह स्पष्ट बताया है कि कौन जीव ज्ञानी कहलाता है और वह किन चिह्नों से जाना जा सकता है।

[गाथा २३ से २५]

२८- इन गाथाओं में आचार्य भगवान ने अप्रतिबुद्ध को समझाने का प्रयत्न किया है। आत्मा के यथार्थ स्वरूप को नहीं समझनेवाले जीवों को अज्ञानी, अप्रतिबुद्ध, पर्यायबुद्धि अथवा मिथ्यादृष्टि कहा जाता है। यह गाथायें अनादिकालीन अज्ञानियों को लक्ष करके कही गई हैं। इस गाथा में आचार्यदेव कहते हैं कि—

अज्ञान से जिसकी मति मोहित हुई है, वे जीव, बद्ध और अबद्ध पुद्गलद्रव्य को 'यह मेरा है' इस प्रकार मानता है। (शरीरादिबद्ध पुद्गलद्रव्य हैं और धनधान्यादि अबद्ध पुद्गलद्रव्य हैं) वैसे जीव को कहते हैं कि वीतराग सर्वज्ञदेव के ज्ञान में जीव सदा उपयोग लक्षणवाला-दिखाई देता

है, तब फिर तेरा जीव, पुद्गल कैसे हो सकता है जिससे तू यह मानता है कि 'यह मेरा है ?' यदि जीव, पुद्गल हो जाता होता अथवा पुद्गल जीव हो जाता होता, तब तू यह भले मान लेता कि ''पुद्गलद्रव्य मेरा है;'' किन्तु ऐसा तो कभी होता नहीं है।

२९- इस प्रकार उपदेश देकर अप्रतिबुद्ध को मिथ्या मान्यता छोड़ने का समझाया है।

[गाथा २६]

३०- आचार्य भगवान के कथन को सुनने का इच्छुक जीव अज्ञानी है, किन्तु वह अपने अज्ञान को दूर करने में रुचि रखता है, इसलिये विशेष जानने के लिये वह अज्ञानी (अप्रतिबुद्ध) स्वयं प्रश्न के रूप में यह गाथा कहता है। उस प्रश्न की गाथा में अप्रतिबुद्ध शिष्य कहता है कि—

जो जीव है, वह यदि शरीर न हो तो तीर्थंकर भगवान तथा आचार्य की जो स्तुति करते हैं, वह सब मिथ्या हो जाय; इसलिये हम तो समझते हैं कि जीव, शरीर ही है।

३१- अप्रतिबुद्ध उपरोक्त २३, २४, २५ वीं गाथाओं को सुनकर यह प्रश्न उपस्थित करता है, और उस प्रश्न में स्वयं कहता है कि हम तो जीव और शरीर को एक ही मानते हैं। वह इसके समर्थन में भगवान तथा आचार्यदेव के शरीर की की जानेवाली स्तुतियों को प्रमाण के रूप में उपस्थित करता है और कहता है कि मेरी बात को शास्त्र का समर्थन प्राप्त है। यह प्रश्न स्पष्ट सूचित करता है कि यह शास्त्र मुख्यतया अज्ञानी को समझाने के लिये बनाया गया है।

[गाथा २७ से ३० : व्यवहार स्तुति का स्वरूप]

३२- अज्ञानी ने गाथा २६ में जो अपनी मान्यता व्यक्त की है, वह भ्रमपूर्ण है, यह बताकर उसे यथार्थ स्वरूप समझाने के लिये आचार्यदेव ने यह गाथायें कही हैं।

३३- यहाँ पर आचार्यदेव, अज्ञानी से कहते हैं कि भाई! तू नय के स्वरूप को ठीक-ठीक नहीं जानता, इसलिये शरीर की स्तुति के शब्दों से तूने जीव और शरीर को एक मान लिया है। जो जीव, नय विभाग को भलीभांति जानते हैं, वे इस स्तुति के भाव को बराबर समझते हैं। इसलिये गाथाओं में उस स्तुति का वास्तविक अर्थ बताया गया है।

३४- गाथा २७ में कहा है कि—सोना-चाँदी को एक पिण्डरूप में कहने—बोलने की प्रथा है; किन्तु इसीलिये सोना-चाँदी एक नहीं हो जाते। इसी प्रकार शरीर और जीव, आकाश के एक ही भाग में स्थित हैं, इसलिये उन्हें एक क्षेत्रावगाही होने की अपेक्षा से एक कह दिया जाता है; किन्तु वास्तव में वे दोनों भिन्न हैं, इसलिये वे दोनों एक पदार्थ कदापि नहीं हो सकते। एक क्षेत्रावगाही

होने की अपेक्षा को लक्ष में रखकर जो एकरूप में कहने की रीति है, उसे शास्त्र की परिभाषा में व्यवहारनय कहा जाता है; और क्योंकि वस्तु भिन्न है, इसलिये वह कदापि एक नहीं हो सकती। इस कथन को शास्त्र में निश्चयनय कहा गया है।

३५–ज्ञानीजन स्तुतियों के भाव को बराबर समझते हैं, इसलिये वे उसका अर्थ इस प्रकार करते हैं कि—यद्यपि स्तुति के शब्द शरीर को लक्ष करके हैं, तथापि उनके लक्ष में तीर्थंकरदेव तथा आचार्य के आत्मा की शुद्धता की स्तुति की जाती है। उपरोक्त गाथाओं का ऐसा अर्थ है और यहाँ यह कहा है कि यह स्तुति व्यवहार स्तुति है। व्यवहार स्तुति कहने का अर्थ यह है कि केवली भगवान और आचार्य महाराज उस स्तुति करनेवाले जीव से पर है, इसलिये पर की स्तुति में राग आये बिना नहीं रहता। यद्यपि उसके द्वारा शुभभाव होता है किन्तु वह धर्म नहीं है। [देखो, गाथा २८]

३६– इस विषय को स्पष्ट करने के लिये २९ वीं गाथा में कहा है कि शरीर के गुणों के द्वारा केवली की स्तुति करना, सो व्यवहार स्तुति है, वह निश्चय स्तुति नहीं है। निश्चय स्तुति तो केवली के गुणों को अपने में अशंत: प्रगट करना है, वह परमार्थ से केवली की स्तुति है।

३७– शरीर के गुणों द्वारा केवली भगवान की स्तुति करना सच्ची स्तुति नहीं है, यह बताने के लिये ३० वीं गाथा में दृष्टान्त दिया है। उस दृष्टान्त में कहा है कि जैसे नगर की स्तुति करने से राजा की वास्तविक स्तुति नहीं हो जाती, वैसे ही देह गुण की स्तुति करने से केवली भगवान की सच्ची स्तुति नहीं हो जाती।

३८– इस प्रकार व्यवहार स्तुति का स्वरूप समझाया है (यदि प्रकारान्तर से कहा जाय तो व्यवहारनय का स्वरूप समझाया है)। इसमें कहा गया है कि व्यवहारनय से भगवान की जो स्तुति की जाती है, उसमें शुभभाव होता है, इसलिये वह सच्ची स्तुति नहीं है। सच्ची स्तुति तो वह है जिसके द्वारा शुद्धभाव प्रगट हों। आचार्य भगवान ने अज्ञानी का अज्ञान दूर करने के लिये गाथा ३१, ३२, ३३ में निश्चय स्तुति का स्वरूप कहा है। उसके समझ लेने पर निश्चय ही अज्ञान दूर हो जाता है।

[गाथा ३१, ३२, ३३ : निश्चयस्तुति का स्वरूप]

३९– जीव की अनादि काल से अज्ञानदशा चली आ रही है, इसलिये जीव कभी निश्चय स्तुति के स्वरूप को नहीं समझ पाया। उस अज्ञान को दूर करने के लिये इस गाथा में निश्चय स्तुति का स्पष्ट स्वरूप कहा गया है।

४०- अनादिकाल से जीव ने यह मान रखा है कि इन्द्रियाँ अपनी हैं, और यह मान रखा है कि उन इन्द्रियों की सहायता से ज्ञान होता है। इसीलिये इन्द्रियों के द्वारा ज्ञात पदार्थों का संग कर रखा है। यहाँ पर समझाया है कि—उन द्रव्य इन्द्रियों-भावेन्द्रियों और इन्द्रियों के विषयभूत पदार्थों से तेरा स्वरूप बिल्कुल भिन्न है; तू ज्ञानस्वरूप है, इसलिये निर्मल भेदाभ्यास की प्रवीणता प्राप्त करके, अन्तरंग में प्रगट अति सूक्ष्म चैतन्य स्वभाव के बल से यह निश्चय करना चाहिये कि वे द्रव्येन्द्रियाँ अपने से भिन्न हैं। और यह निश्चित करना चाहिये कि तू एक अखण्ड चैतन्य शक्तिरूप है, इसलिये तू खण्ड-खण्ड ज्ञानरूप नहीं है। तथा तू स्पर्शादिक पदार्थों से असंग है। यों तीन प्रकार समझाकर कहा है कि (१) जीव को चैतन्य के अवलम्बन का ही बल है, (२) जीव अखण्ड ज्ञानस्वरूप है, (३) जीव असंग है। इस प्रकार निश्चय करने से जितेन्द्रिय हुआ जाता है। इसलिये प्रथम इस मान्यता को प्रगट करना, सो यह मान्यता ही जितेन्द्रियत्व है, और वह धर्म का प्रारंभ है।

४१- यह प्रारंभिक निश्चय स्तुति है, यह जघन्य निश्चयस्तुति है, यह भगवान की सच्ची स्तुति है।

प्रश्न—इसमें भगवान की स्तुति कहाँ है ? इसमें तो भगवान का नाम तक नहीं लिया गया।

उत्तर—जिसकी स्तुति की जाती है, उसके गुणों का अंश भी यदि स्वयं अपने में प्रगट किया जाय तो वह सच्ची स्तुति है। सम्यग्दर्शन, भगवान में प्रगट हुये गुणों का एक अंश है, इसलिये सम्यग्दर्शन का प्रगट करना, सो भगवान की अल्पातिअल्प सच्ची स्तुति है। सम्यग्दर्शन ही सच्ची स्तुति-भक्ति है। (देखिये गाथा ३१) इस प्रकार अज्ञानी को सच्ची स्तुति (सच्ची भक्ति) समझाकर इस गाथा में उसके अज्ञान को दूर करने का प्रयत्न किया गया है।

४२- भगवान की सब से छोटी स्तुति को कहने के बाद उससे ऊपर की स्तुति ३२ वीं गाथा में बताई है। सम्यग्दृष्टि जीव अपनी शुद्धता का अभ्यासी होकर-साधुता प्राप्त करके निर्विकल्पदशा में आगे बढ़कर मोह पर विजय प्राप्त करे, सो भगवान की अधिक उच्च सच्ची स्तुति है। इस स्तुति के बाद सर्वोच्च स्तुति वह है, जब सम्यग्दृष्टि साधु क्षीणमोहदशा को प्राप्त कर ले। यह ३३ वीं गाथा में बताया गया है।

४३- क्षीणमोहदशा केवलदशा से नीचे है, इसलिये वहाँ तक की शुद्धदशा को निश्चय-स्तुति कहा गया है। किन्तु केवलज्ञान के प्रगट होने पर समानता हो जाती है। इसलिये उस दशा को निश्चयस्तुति नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार अज्ञानी के लिये सच्ची स्तुति के ३ प्रकार बताये हैं।

पहली स्तुति चौथे गुणस्थान में प्रगट होती है। इसके प्रगट हुये बिना किसी भी जीव के ऊपर की स्तुति प्रगट नहीं हो सकती।

४४- गाथा ३१ में कही गई निश्चय स्तुति को ज्ञेय-ज्ञायक-संकर दोष का परिहार, और गाथा ३२ में कही गई निश्चयस्तुति को भावक-भाव्य संकर दोष का दूर होना तथा गाथा ३३ में कही गई उत्कृष्ट स्तुति को भावक-भाव्य संकर दोष के अभाव के नाम से भी पहचाना जाता है।

४५- गाथा २६ में अज्ञानी जीव ने कहा था कि भगवान और आचार्य की स्तुति में जो वचन कहे जाते हैं, उससे ज्ञात होता है कि वे यह मानते हैं कि देह और जीव एक है। इस प्रश्न के उत्तर में आचार्यदेव ने उसे करुणापूर्वक नय दृष्टि से व्यवहार और निश्चय स्तुति का स्वरूप गाथा २७ से ३३ तक समझाया है। इस स्वरूप को समझने पर शिष्य के अज्ञान पटल दूर हुये और वह ज्ञानी हुआ। उसने अपने स्वरूप को जाना और आत्मस्वरूप में स्थिर होने की जिज्ञासा होने पर प्रत्याख्यान का स्वरूप गुरु-मुख से सुनने के लिये प्रत्याख्यान के संबंध में प्रश्न किया कि—इस आत्माराम का अन्य द्रव्यों का प्रत्याख्यान (त्याग) क्या है। आचार्यदेव ने उसे उत्तर दिया कि—जो यह कहा जाता है कि जो प्रत्याख्यान करनेयोग्य परभाव हैं, उनका त्याग करना चाहिये, वह वास्तव में तो स्वयं ज्ञानस्वभाव से न छूटना और अपने में स्थिर होना है; इसलिये यह अनुभव करना चाहिये कि प्रत्याख्यान ज्ञान ही है।

[गाथा ३५]

४६- इस गाथा में प्रत्याख्यान का स्वरूप दृढ़तापूर्वक समझने के लिये दृष्टांत और उसका सिद्धांत कहा गया है।

दृष्टांत—जो सज्जन किसी भी अन्य की वस्तु अपने पास आई हुई जानता है, वह तत्काल ही उसे छोड़ देता है।

उसी प्रकार—

सिद्धांत—सभी प्रकार के विकारीभाव अपना स्वरूप नहीं है, यह जाननेवाले ज्ञानी उसका परित्याग करते हैं।

४७- सम्यग्ज्ञान प्राप्त करके परभावों का त्याग करना, सो सच्चा प्रत्याख्यान है। इस प्रकार आचार्यदेव ने यहाँ समझाया है।

(शेष आगामी अंक में)

मुद्रक : चुनीलाल माणेकचंद रवाणी, शिष्ट साहित्य मुद्रणालय, दास कुंज, मोटा आंकडिया ता.२३-११-४६
प्रकाशक : जमनादास माणेकचंद रवाणी, आत्मधर्म कार्यालय, मोटा आंकडिया, काठियावाड